ॐ श्रीपरमात्मने नमः

[संख्या १

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,९०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर आश्विन, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१३, सितम्बर १९८७ ई०

चित्र-सूची

प्रत्येक साधारण अङ्कका मूल्य
भारतमें १.२५ रु०
विदेशमें १५ पैंस

जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

कल्याणका वार्षिक मूल्य
भारतमें १०.०० रु०
विदेशमें ५ पौंड
अथवा ७ डालर

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका।
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका

केशोराम अग्रवालके लिये मोतीलाल जालानद्वारा गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

श्रीशिवकृत श्रीराम-स्तुति

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ।
अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरिञ्च्यादिभिरपि प्रणन्तुं स्तोतुं वा कथमकृतपुण्यः प्रभवति ॥

वर्ष ६१ } गोरखपुर, सौर आश्विन, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१३, सितम्बर १९८७ ई० { संख्या ९ पूर्ण संख्या ७३०

श्रीशिवकृत श्रीराम-स्तुति
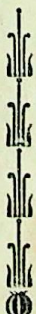
वैनतेय सुनु संभु तब आए जहँ रघुबीर ।
बिनय करत गदगद गिरा पूरित पुलक सरीर ॥
जय राम रमारमनं समनं । भवताप भयाकुल पाहि जनं ॥
अवधेस सुरेस रमेस बिभो । सरनागत मागत पाहि प्रभो ॥

× × ×

तव नाम जपामि नमामि हरी । भव रोग महागद मान अरी ॥
गुन सील कृपा परमायतनं । प्रनमामि निरंतर श्रीरमनं ॥
रघुनंद निकंदय द्वंद्वघनं । महिपाल बिलोकय दीन जनं ॥

कल्याण

निश्चय करो—मेरे मनमें सदा-सर्वदा मङ्गलमय भगवान् निवास करते हैं। उनके समस्त दिव्य गुण और भाव मेरे मनमें सदा तरङ्गित हो रहे हैं। अब मैं मनमें उनके सिवा किसी भी अन्य वस्तुको तथा किसी भी बुरे विचार और भावको नहीं आने दूँगा।

निश्चय करो—मैं सर्वत्र भगवान् और उनके मङ्गलमय भावोंको देखूँगा तथा सदा सद्विचार करूँगा। मेरे मुखसे सदा भगवान्‌की महिमाको बतानेवाले, सबका हित करनेवाले, सबको सुख पहुँचानेवाले सत्य, मधुर और पवित्र वचन ही निकलेंगे।

निश्चय करो—मैं कभी कोई ऐसा काम नहीं करूँगा, जो श्रीभगवान्‌की प्रसन्नताका कारण न हो। सदा उनकी सेवाके लिये ही उनके प्रीतिकर कर्म करूँगा। मेरी इच्छा सदा उन्हीं कर्मोंके करनेकी होगी, जिनसे भगवान् और उन्हींके अभिव्यक्तरूप जगत्‌के प्राणियोंको सुख होता हो।

निश्चय करो—मुझे कभी भी सद्विचार तथा सत्कर्मको छोड़कर अन्य किसी भी विचार तथा कर्मके लिये अवकाश ही नहीं मिलेगा। मन तथा शरीर नित्य भगवान्‌की सेवामें ही लगे रहेंगे। एक क्षणका भी सेवा-वियोग मुझे सहन नहीं होगा।

निश्चय करो—मेरा कभी कोई अमङ्गल नहीं हो सकता; मेरा कभी कोई बुरा नहीं कर सकता; क्योंकि सभीमें सभी समय मेरे भगवान् ही निवास करते हैं और मेरे लिये जो कुछ भी, जिस किसीके द्वारा भी होता है, सब भगवान्‌के मङ्गलमय विधानसे मेरे मङ्गलके लिये ही होता है।

निश्चय करो—संसारमें मुझे कोई भी मनुष्य या घटना कभी भी निराश या उदास नहीं कर सकती; क्योंकि मेरे परम सुहृद् भगवान् नित्य स्वाभाविक ही मेरा मङ्गल करते रहते हैं और सब सर्वशक्तिमान् [illegible] विराजमान मेरे प्रभु मेरे मङ्गल-विधानमें संलग्न हैं, तब सफलतामें संदेहको स्थान ही कहाँ है, जिससे निराशा और उदासीकी सम्भावना हो।

निश्चय करो—जब भगवान्‌के मङ्गलमय राज्यमें अमङ्गलको स्थान ही नहीं है, तब अमङ्गलकी कल्पना करके मैं क्यों व्यर्थ ही अमङ्गलको बुलाऊँ?

निश्चय करो—जब सभीमें मेरे भगवान् भरे हैं, तब सभी मङ्गलसे ही ओतप्रोत हैं। फिर मैं किसीमें अमङ्गलके दर्शन करके इस सत्यका हनन क्यों करूँ?

निश्चय करो—जब सर्वत्र और सदा मङ्गल-ही-मङ्गल और आनन्द-ही-आनन्द है, तब मैं सदा आनन्दमें ही निमग्न रहूँगा। जीवन-मृत्यु, लाभ-हानि, सुख-दुःख, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा—किसी भी बाहरी अवस्थाका मेरी इस नित्य आनन्दमयी स्थितिपर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकेगा।

याद रखो—यहाँ जो तुम्हें दोष, दुःख, अमङ्गल तथा अशुभ दीखता है, वह इसीलिये दीखता है कि तुम सदा सर्वत्र नित्य मङ्गलमय और आनन्दमय भगवान्‌को नहीं देख पा रहे हो। यहाँ जो कुछ ऊपरसे दीखते हैं, वे उन मङ्गलमय भगवान्‌के ही विभिन्न छद्मवेष हैं। उन्हींकी लीलाके विविध दृश्य हैं। इनकी आड़में नित्यानन्द-घनस्वरूप भगवान् सदा विराजमान हैं।

याद रखो—तुम अशुभकी कल्पना करते हो, इसीसे तुम्हें दुःख होता है। किसी भी अशुभ-से-अशुभ कहे और माने जानेवाले पदार्थ और भावमें भी गहराईसे देखोगे तो तुम्हें परम शुभ और परम सुखरूप भगवान् छिपे दिखायी देंगे। जहाँ जाओ, जहाँ देखो, उन्हें ही देखनेका प्रयत्न करो। अपनी तीक्ष्ण दृष्टिसे उन्हींका अनुसंधान करो। उन्हें पहचान लो और निहाल [illegible] हो जाओ। —'शिव'

श्रीशरणागत-अष्टक

(१)

तात की बात को मानि के राज को
बीथी के ठीकरे ज्यों ठुकरायो ।
पुत्र-वियोग सों देखे दुखी गुरु,
काल के गाल सों काढ़ि के लायो ॥
हाथी की एकहि हाँक सुनी उठि
धावन की नाईं पाँवन धायो ।
आवन पाई न दूसरी हाँक, मैं
याहि सुनी सरनागत आयो ॥

(२)

काटे कठोरता सों दशकण्ठ के
कण्ठ कठोर जो चाप चढ़ायो ।
ताहि के भाई के भाल में राज को
टीको सिरा निज कण्ठ लगायो ॥
गर्भ में अर्भक भूप परीच्छित
पैं जब द्रौणि ने बाण चलायो ।
राखि लियो निज चक्र की छाँहि, मैं
याहि सुनी सरनागत आयो ॥

(३)

देखि सुदामा कूँ द्वार खरयो दुखि,
भागि के, भेटि के भाव जनायो ।
आँखिन में जल, रोध भयो गल,
मीत को नेह न चित्त समायो ॥
भिल्ली के हाथ के चाखि के बेर द्रो
मात के हाथ को भोग भुलायो ।
माँ की गत दई डाइन को, मैं तो
याहि सुनी सरनागत आयो ॥

(४)

पाहन की भई गौतम नारि कूँ
पायन-धूरि सों चेत करायो ।
बालक के तपसों अति रीझि के
धाम अडोल दियो मन भायो ॥
आपुनो नाम अजामिल के मुख
सों. सुनि पाछिलो रोष भुलायो ।
कण्ठ सों काल को फाँस कढ़ायो, मैं
याहि सुनी सरनागत आयो ॥

(५)

भील सों भाई की नाईं मिले,
निज डील सों डील मिलाय सिरायो ।
रूप की रूरी को आयुकी पूरी की,
जाति की कूरी को मान बढ़ायो ॥
मेवा मिठाई सों नाक चढ़ाइ के,
दासी के हाथ को साग सरायो ।
भावके भूखे हो भात के नाँहिं, मैं
याहि सुनी सरनागत आयो ॥

(६)

लाख के भौन में राख भये हुते,
राखिके पांडु को वंश बचायो ।
बालक खातिर पाहन फोरिके
हे हरि ! केहरि रूप बनायो ॥
मारि विनोद विनोद में राक्षस
मोद सूँ भक्त कूँ गोद खिलायो ॥
आरत को एक तुहि उबारत,
याहि सुनी सरनागत आयो ॥

(७)

देखि जटायु कूँ धूरि परयो मग
अंक भरयो अँसुवानि नुहायो ।
प्रान गये लखि रोवे घने पुनि,
अन्त में तात सो नातो निभायो ॥
भीर परी जब द्रौपदि पै तब
चीर समुद्र को तीर न पायो ।
भीर परे पर साथी तुही, मैं तो
याहि सुनी सरनागत आयो ॥

(८)

मीरा के साथ रहे दिन-रात,
दर्यो उतपात जो भूप पठायो ।
भात भरयो नरसी को निराको तू,
साँवल साह के बोल बिकायो ॥
छीपा की छान छवाई छिपै दिन,
छेम सों छोड़ को छाँहि बिठायो ।
नेह को नातो निभायो सदा तू, मैं
याहि सुनी सरनागत आयो ॥

दोहा

मैं तो सब बिधि दीन हूँ, भक्ति-भावसे हीन।
काम-क्रोधमें लीन हूँ, लम्पट विषयाधीन॥
तुम्हें रिझावनकी प्रभो, मोपै एक न रीत।
तुम रीझो निज रीति सों, याहि एक परतीत॥
बँध्यो मोहकी शृङ्खला तुमको रह्यो पुकार।
हे हरि इस निज दासको लीजे शीघ्र उबार॥
यह शरणागत नामको अष्टक कष्ट निवार।
'तुलसी' जो याको पढ़े, उपजै शान्ति अपार॥

—'दिनेश'

कलामय

हृदयके बीच यह कैसी वार्ता क्षण-क्षणपर गूँज जाती है कि—'तुम मेरे परिचित हो।' यह बारंबार स्मरण हो जाता है कि—'तुमसे मेरा परिचय नहीं होनेका।' बारंबार सोचती हूँ कि 'सम्भवतः मुझे तुम्हारी प्राप्ति न हो।' नहीं-नहीं, मैं तो तुम्हें पहचानती हूँ। तुम तो मेरे चिरपरिचित हो। तुम्हारी बाँसुरीकी स्वर-लहरियोंको मैं रह-रहकर सुन तो पाती हूँ। मेरे हृदयके गुह्यतम प्रदेशमें तुम्हारा ही तो अवस्थान है। पर इतनेसे ही तुम्हारा दर्शन कहाँ मिलता।

इससे भी तुम नहीं मिलते कि जीवनके समस्त शुभ मुहूर्त तुम्हारी खोजमें ही बीत जाते हैं। तुम्हें पाना चाहती हूँ—परिपूर्णरूपसे; क्योंकि तुम्हें मैं अन्तरसे जानना चाहती हूँ।

तुम्हारा पता नहीं मिलेगा क्या ? युग-युगान्तरसे तुम्हारी प्राप्तिकी साधना करनेपर भी क्या तुम्हें नहीं पा सकूँगी ? तुम्हें मैं पाना चाहती हूँ, पर तुम तो मेरी समस्त आकाङ्क्षाओंसे परे हो। तुम मेरी समस्त कामनाओंके ऊपर जो हो, इसीसे पाकर भी तुम्हें पाना कठिन है।

तुम मेरे निकट हो—अति निकट। तुम मेरे समस्त कार्योंमें बिखरे हुए हो; फिर भी तुम्हारा दर्शन क्यों नहीं कर पाती ? तुम पास ही हो, पर तुम दूर हो, बहुत दूर।

प्रिय ! क्षणभरके लिये भी तो आ जाओ। अपने हृदय-रससे सींचकर तुम्हारे लिये अपने आँगनमें जो कोमल कलियाँ बिछा रखी हैं, क्या उनपर तुम्हारे विश्व-पूज्य चरणोंके चिह्न नहीं पड़ेंगे ?

तुम्हारे स्वागतके लिये अनुराग-कुसुमके पिरोये हार मुरझा रहे हैं। प्रतीक्षाके दीप मलिन होते जा रहे हैं। हताशाका प्रचण्ड पवन मेरे भग्न-गृहमें प्रवेशकर उत्पात मचाना चाहता है।

तुम्हारे मनोहर संगीतका गायन न हो सका। तुम्हारी चिन्तामें ही मेरे सम्पूर्ण क्षण समाप्त हो चले; किंतु तुम्हारी खोज नहीं मिली। केवल तुम्हारी सत्ताकी उपलब्धि करती हूँ। बस, तुम्हारे विराट् तत्त्वका अनुभव करती हूँ।

प्रभो ! तुम नहीं मिलते, यही मेरी पीड़ा है। तुम्हें यथार्थ नहीं जानती, इसीमें मेरी व्यथा है। तुम्हारा विछोह ही मेरा दुःख है; परंतु तुम्हें पहचानती हूँ, यही मेरा आनन्द है। तुम्हें चाहती हूँ, इसीमें मेरा गौरव है। तुमपर विश्वास रखती हूँ, इसीमें ही मेरी शान्ति है।

कलामय ! तुम्हारी इस आँखमिचौनीसे भी मैं सुखी हूँ, पर इतनेसे तो कभी वञ्चित न करना।—"ममता"

काम करते हुए भगवत्प्राप्तिकी साधना

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

काम करते हुए भी हम ईश्वरको सदा-सर्वदा स्मरण रखते हुए अपना कल्याण किस प्रकार कर सकते हैं—इस सम्बन्धमें कुछ निवेदन किया जाता है। निश्चय ही सभी लोग कामको छोड़कर भजन-ध्यानमें नहीं लग सकते। वास्तवमें गीताके अनुसार कामको छोड़ देनेकी आवश्यकता भी नहीं है। लोग भूलसे ही यह धारणा कर लेते हैं कि गीता तो संन्यास ले लेनेका ही उपदेश देती है, किंतु यह बात ठीक नहीं; क्योंकि अर्जुन तो सब कुछ छोड़कर भीखके द्वारा अपना जीवन-निर्वाह करनेको तैयार ही हो गया था। उसने भगवान्‌से स्पष्ट कह दिया था कि—

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्॥
(गीता २।५)

'इन महानुभाव गुरुजनोंको न मारकर मैं इस लोकमें भिक्षाका अन्न भी खाना कल्याणकारक समझता हूँ; क्योंकि गुरुजनोंको मारकर भी इस लोकमें रुधिरसे सने हुए अर्थ और कामरूप भोगोंको ही तो भोगूँगा।'

किंतु भगवान्‌ने उसे अपना स्मरण कराते हुए ही स्वधर्मरूप युद्ध करनेकी आज्ञा दी—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥
(गीता ८।७)

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निस्संदेह मुझे ही प्राप्त होगा।'

भगवान्‌के इस उपदेशके अनुसार जब भगवत्स्मृतिके रहते हुए युद्ध-जैसी क्रिया भी हो सकती है तो फिर हम लोगोंके साधारण कार्योंके होनेमें तो कठिनाई ही क्या है? गीता अध्याय १८ श्लोक ५६ में तो सदा कर्म करते हुए भी भगवत्प्राप्ति होनेकी बात कही गयी है—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

'मुझमें परायण कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है।'

अतः भगवान्‌की शरण होकर कर्म करने चाहिये। कई भाइयोंका कहना है कि 'काम करते हुए भजन करनेसे काम अच्छी तरह नहीं होता और कामको अच्छी तरह करनेसे भजन निरन्तर नहीं होता।' उनका यह कहना ठीक भी है। आरम्भमें ऐसी कठिनाई हो सकती है, किंतु आगे चलकर अभ्यासके बढ़ जानेपर भगवत्कृपासे यह कठिनाई नहीं रहती। इसलिये काम करते समय हमें इसका अभ्यास डालना चाहिये। इस सम्बन्धमें नटनीका उदाहरण सामने रखा जा सकता है। नटनी बाँसपर चढ़ते समय ढोल भी बजाती रहती है और गायन भी करती रहती है; किंतु इन सब क्रियाओंको करते हुए भी उसका ध्यान निरन्तर पैरोंकी ओर ही रहता है। इसी प्रकार गाने-बजानेकी भाँति हमें सब काम करने चाहिये और उसके पैरोंके ध्यानकी भाँति हमें परमात्मामें अपना मन रखना चाहिये।

जब हमलोग कोई भी काम करें, उस समय श्वास या वाणीके द्वारा भगवान्‌के नामका जप और गुण तथा प्रभावके सहित उनके स्वरूपका ध्यान करते हुए ही

काम करनेका अभ्यास डालना चाहिये । काम करते समय यह भाव रहना चाहिये कि यह काम भगवान्‌का है और उन्हींके आज्ञानुसार मैं इसे उन्हींकी प्रसन्नताके लिये कर रहा हूँ । प्रभु मेरे पास खड़े हुए मेरे कामको देख रहे हैं——ऐसा समझकर सदा प्रसन्न रहना चाहिये ।'

इस प्रकार मनसे परमात्माका चिन्तन और श्वास या वाणीसे उनके नामका जप करते हुए काम करनेका अभ्यास करनेसे परमात्माकी प्राप्ति सहज ही हो सकती है । ऐसा अभ्यास करनेसे आरम्भमें यदि काममें कमी भी आवे तो कोई हानि नहीं । वास्तवमें भजन-ध्यानमें कमी नहीं आनी चाहिये ।

हमलोगोंको प्रातः-सायं दोनों समय नियमितरूपसे अपने-अपने अधिकारके अनुसार ईश्वरकी उपासना अवश्य ही करनी चाहिये; क्योंकि प्रातःकालकी उपासना करनेपर परमात्माकी कृपासे दिनभर उनकी स्मृति रह सकती है । स्मृतिको तैलधाराकी तरह अखण्ड बनाये रखनेके लिये हमें चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते तथा प्रत्येक कार्य करते हुए भगवान्‌को अपने साथ समझना चाहिये । मनमें सदा-सर्वदा यह निश्चय रखना चाहिये कि हम जो कुछ करते हैं उसे भगवान् ही करवाते हैं । गुरु जिस प्रकार बच्चेका हाथ पकड़कर उससे अक्षर लिखवाते हैं, उसी प्रकार परमात्मा हमें प्रेरित करके समस्त कार्योंका आचरण हमसे करवाते हैं । कठपुतली जिस प्रकार सूत्रधारके इशारेपर नाचती है, उसी प्रकार हमें भगवान्‌के हाथमें अपनी बागडोर सम्हलाकर काम करना चाहिये । इस प्रकारके अभ्याससे हमें प्रत्यक्ष शान्तिका अनुभव होने लगेगा और हमारे साधनसे परमात्मा विशेष प्रसन्न होंगे । इसी प्रकार सायंकालकी उपासना करनेपर भगवत्कृपासे रात्रिमें और सोनेके समय भी भगवान्‌की स्मृति रह सकती है । उससे दुःस्वप्नोंका नाश होकर वृत्तियाँ सात्त्विक हो जाती हैं और निरन्तर प्रसन्नता तथा शान्ति बनी रहती है । इसलिये हमें अपने मस्तकपर प्रभुका हाथ समझकर सदा आनन्दित रहना चाहिये और भोग, आराम, पाप, आलस्य तथा प्रमाद आदिको मृत्युके समान समझकर अपने जीवनके लक्षणोंका उपयोग उत्तम-से-उत्तम कार्योंमें ही करना चाहिये । भगवान्‌के नामका जप और गुण तथा प्रभावके सहित उनके स्वरूपका ध्यान करते हुए ही उनकी आज्ञाके अनुसार तत्परताके साथ काम करना चाहिये ।

परंतु इस कर्मयोगकी साधनामें निम्नलिखित बातें अत्यन्त बाधक हैं—क्रोध, वैमनस्य, ईर्ष्या, भय, मनोमालिन्य, द्वेष और घृणा आदि । इन विघ्नोंको मृत्युके समान समझते हुए इनका सर्वथा परित्याग कर देना ही उचित है । इनसे छुटकारा पानेका मुख्य उपाय है—ईश्वरकी शरण । इस शरणागतिका यदि पूर्णतया पालन कर लिया जाय तो उपर्युक्त विघ्नोंसे सहज ही मुक्ति प्राप्त की जा सकती है—इसमें तो संदेह ही क्या है; किंतु परेच्छा और अनिच्छासे जो कुछ भी प्राप्त हो उसे ईश्वरका भेजा हुआ पुरस्कार मानकर प्रसन्न होनेसे भी इन विघ्नोंसे छुटकारा हो सकता है । मनके प्रतिकूल जो कार्य होता है, उसे दैवेच्छा अर्थात् भगवदिच्छासे होनेवाला मान लें तो तुरंत ऊपर लिखे विघ्न नष्ट हो सकते हैं । जब कोई कार्य हमारे मनके प्रतिकूल हो तो हमें समझना चाहिये कि इसमें निश्चय ही भगवान्‌का हाथ है । यह उनकी हमपर बड़ी भारी दया हो रही है कि वे सब कुछ जानते हुए भी आज हमारे हितके लिये हमारी परीक्षा ले रहे हैं । अब हमें सावधान रहना चाहिये कि कहीं हम उस परीक्षामें अनुत्तीर्ण न हो जायँ । इस प्रकार जो उस स्थलपर भी आनन्दका ही अनुभव करता है वही वास्तविक भक्त है । भगवान्‌के प्रत्येक विधानमें प्रसन्न रहना ही तो भक्तका परम कर्तव्य है । अतएव भगवान्‌का भक्त बनने-की इच्छावालोंको चाहिये कि वे उनके प्रत्येक विधानमें

प्रसन्न रहें। भगवान् हमें पापोंसे मुक्त करके विशुद्ध बनाने तथा सहनशील और धैर्यवान् होनेके लिये हमारे मनके प्रतिकूल पदार्थ भेजकर हमें चेतावनी दिया करते हैं। बाढ़, भूकम्प, महामारी और दुर्भिक्ष आदि अनिच्छासे होनेवाले अनिष्ट भगवान्के द्वारा ही भेजे हुए होते हैं। मनुष्यों तथा पशु-पक्षियों आदि द्वारा परेच्छासे जो अनिष्ट होते हैं, उनमें भी भगवान्की ही प्रेरणा समझनी चाहिये। यह समझकर हमें उन विपरीत परिस्थितियोंमें भी इतना आनन्द होना चाहिये जितना कि एक दरिद्र पुरुषको पारसके प्राप्त होनेपर भी नहीं होता।

निन्दा और अपमान हमें जिस दिन अच्छे मालूम होने लगेंगे, उस दिन समझना चाहिये कि हम भगवान्के संनिकट पहुँच रहे हैं। वर्तमान स्थितिसे वह स्थिति नितान्त विपरीत होगी। जो मान और स्तुति आज हमें अमृतके समान मधुर लगते हैं, वे ही भगवत्-शरणापन्न होनेपर विषके समान लगने लगेंगे। जिस प्रकार स्तुति सुनकर हमारे हृदयमें प्रसन्नताकी लहर उठती है, उसी प्रकार जब निन्दा सुनकर भी हमारे हृदयकी वही स्थिति बनी रहेगी, हमारे हृदयमें स्तुति सुननेके समान ही प्रसन्नताकी लहर उठेगी, तब समझना चाहिये कि हम भगवान्के समीप आ गये हैं। आज पुष्पमाला पहनकर हम जिस हर्षका अनुभव करते हैं, ठीक उसी हर्षकी अनुभूति तब हमें जूतोंसे तिरस्कृत होनेपर भी होगी। (क्रमशः)

संसारका स्वरूप

(तत्त्वदर्शी महात्मा श्रीतैलङ्ग स्वामीजीका उपदेश)

संसार किसे कहते हैं?* निजमें—स्वयं और स्त्री-पुत्रादि आत्मीयजनोंको लेकर ही संसार है। यथाशक्य अर्थोपार्जनद्वारा कुछ विषयादिकी उपलब्धि कर उन आत्मीयजनोंका लालन-पालन करना ही संसारका प्रधान कार्य है। छोटे-बड़े सभी लोग जीवनभर इसीमें लगे रहते हैं। वे मायासे मुग्ध होकर कौन पिता, कौन माता, कौन भाई, कौन आत्मीय कहाँसे आये हैं, कौन लाया है, क्यों देह धारण किया है, किसने हमें किस कार्यकी सम्पन्नताके लिये यहाँ भेजा है—इन बातोंको न सोचकर आत्मविस्मृत हो रहे हैं। कभी अपनेको धनी, कभी मानी, कभी ज्ञानी मानकर उन्मत्त और उल्लासयुक्त हो रहे हैं। कभी शोक, कभी परिताप, कभी रोग, कभी निन्दा और कभी अर्थकी चिन्ता कर विक्षुब्ध हो रहे हैं। कभी शूद्र, कभी वैश्य, कभी क्षत्रिय और कभी ब्राह्मण-वर्णमें अपनेको वर्णित कर रहे हैं। कभी भोगी, कभी योगी, कभी त्यागी मानकर अपनेको नाना अवस्थाओंके अधीन बना रहे हैं। कभी क्रोधसे उन्मत्त होकर पर-पीड़नमें उत्तेजित हो रहे हैं। कभी लोभग्रस्त होकर पर-द्रव्य-अपहरणमें व्यस्त हो रहे हैं। कभी मोहसे अंधे होकर किसीको अपना और किसीको पराया समझ रहे हैं, कभी विषय-मदसे मत्त होकर जगत्को तृणवत् तुच्छ मान रहे हैं।

मानव! तू एक बार विचार कर देख कि अहंकार करनेके लिये तेरे पास क्या है? जिसके समक्ष पृथ्वी-तक धूलिकण, सूर्यमण्डल एक छोटा-सा गोला और महा-समुद्र गायके खुरके समान है, वहाँ क्या तुम्हारी क्षुद्र देह और क्षुद्र प्राणकी गिनती हो सकती है? तुम धूलिकणके एक सूक्ष्म परमाणुके सामान्य अंशमात्र हो—इस दशामें अहंकार किस बातका? सत्त्व, रज, तम—इन तीन स्थूल आवरणोंसे तुम्हारे नेत्र आच्छादित हो रहे हैं।

* ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। (यजुर्वेद ४० । १)

सूक्ष्मरूप-परिहारपूर्वक तुमने स्थूल देह धारण किया है। इस समय तुम अपने-आपको पहचान नहीं सकते। अभी समय व्यतीत नहीं हुआ है। इस समय भी आत्म-तत्त्व-निर्णय कर पहचान लो कि तुम कौन हो और किसलिये यहाँ आये हो!

सभी मनुष्योंको 'मेरा'-'मेरा'ने मुग्ध कर रखा है। तुम्हारे बालकके अत्यन्त रूपवान् होनेपर भी मेरा चित्त सहसा उतना आनन्दित नहीं होता, जितना कि काले-कलूटे कदाकार अपने पुत्रको देखकर हो उठता है। उसे बार-बार देखनेपर भी नयन तृप्त नहीं होते। जो कार्य मुझे तुम्हारे लिये करना होगा, वह सामान्य होने-पर भी अत्यन्त श्रमसाध्य और क्लेशकर जान पड़ेगा; किंतु उसकी अपेक्षा सौगुना कष्टकर कार्य यदि मेरा हो और तुम्हें प्राणपणसे करना पड़े तो भी मुझे विशेष दुःखका अनुभव नहीं होगा।

कोई वस्तु तुम्हारे अधिकारमें हो——तुम्हारी हो और वह बिगड़ रही हो अथवा नष्ट हो रही हो तो उसके लिये मुझे कोई दुःख नहीं होता, किंतु उसी वस्तुके मेरे अधिकार-युक्त हो जानेपर उसके लिये चिन्ता, यत्न और आदरकी सीमा नहीं रहती। आज जिसे तुम्हारी वस्तु कहकर मैं निन्दा करता हूँ, कल वही यदि मेरी हो जाय तो उसकी प्रशंसा मुखमें भी नहीं समाती। इस माया-राक्षसरूप 'मेरा'-शब्दके जालमें पड़कर कीटसे लेकर ब्रह्मापर्यन्त सभी मोहित हो रहे हैं। मैं जिसे 'मेरी' कहता हूँ, वह मेरी अपनी नहीं हुई, मैं जिस वस्तुको अपनी समझकर यत्न करता हूँ, कालके प्रभावसे वह किसकी होगी——यह बताना किसीके लिये भी साध्य नहीं है। अपनी बुद्धिने ही मेरा सर्वनाश किया है। वास्तवमें मेरा कोई नहीं है।

जब इस सामान्य धन, पुत्र, सुख-दुःख, विषय-सम्पत्ति-को 'मेरी', 'अपनी' कहनेमें इतना आह्लाद होता है, तब यदि एक बार सरल चित्तसे भक्तिभावसे जिसका यह अनन्त ब्रह्माण्ड है, उसे मैं 'मेरा'-'अपना' कहकर पुकार सकूँ तो न जाने कितना आनन्द प्राप्त हो। मानव! तुमने विद्वान् बननेके लिये कितनी पुस्तकें पढ़ी हैं; साहित्य, इतिहास, भूगोल, ज्योतिष, गणित आदि नाना शास्त्र पढ़ डाले हैं; किंतु जिस पुस्तकके पढ़नेसे तुम पण्डित बन सकते हो, वह पुस्तक नहीं पढ़ी और पढ़नेकी इच्छा भी नहीं की। तुम अन्य लोगोंकी भाषा, अन्य लोगोंका इतिहास और जीवनी पढ़ते हो; किंतु अपना क्या है और क्या नहीं, यह कभी नहीं देखा और न देखनेका कोई उद्योग किया। मनुष्यमात्र ही स्वयं एक-एक ग्रन्थ-विशेष है। अपने-आपको पढ़नेसे——अपना अध्ययन आप करनेसे जीवनका समस्त विषय ज्ञात हो सकता है।

अपने शरीरका चर्म, अस्थि, मांस, मेद, मज्जा, स्नायु, शिरा, रस, रक्त, गठन, परिणाम, गतिविधि आदि यदि अच्छी तरह समझ सको तो देखोगे कि भगवान्‌ने तुम्हारे शरीरका सुचारुरूपसे निर्माण किया है। किस प्रकार सुर-ताल मिलाकर शरीरकी प्रत्येक क्रिया स्पन्दित होती है। कैसे पञ्चतत्त्वद्वारा पञ्चतन्मात्र शरीर चलकर नृत्य करता है। कैसे इन्द्रियाँ यथानियम क्रीडा कर रही हैं। इनकी एक वृत्तिका कार्य यदि कभी अस्त-व्यस्त हो जाय तो शरीरमें महाप्रलय उपस्थित हो जाय। गुरुकी सहायतासे यदि तुम अपना जीवन-ग्रन्थ अच्छी तरह पढ़ सको और रचना कर सको तो तुम्हारा और दूसरे लोगोंका विशेष उपकार होगा। गर्भवास उस पुस्तकका आवरण है। कर्मफल उसका सूचीपत्र, दीक्षाग्रहण उसका विज्ञान, शैशव, कैशोर, यौवन और वार्धक्य उसके एक-एक अध्याय और जीवनके अच्छे-बुरे कार्य उसके पाठ्य विषय हैं।'

जो [illegible] हैं और साधारण वस्त्रादि पहनते हैं, वे सादे कागजकी सामान्य पुस्तक हैं और जो बड़े-बड़े

आदमी, जमींदार, राजा, महाराजा हैं, वे अच्छी बँधी हुई सुनहरी जिल्दके एक-एक बड़े ग्रन्थ हैं। जो थोड़े दिनों जीवित रहकर कोई विशेष कार्य किये बिना ही देह-त्याग करते हैं; वे छोटी-छोटी पुस्तिका हैं। जो दीर्घजीवी होकर महत्त्वपूर्ण कार्य कर जाते हैं, वे बृहत् ग्रन्थ हैं और वे ही जगत्के सभी लोगोंके लिये आदर्श और पढ़नेके उपयुक्त हैं। जो दूसरोंको उत्तम जीवन बनानेका उपदेश देते हैं; किंतु निजमें कुछ नहीं करते--वे व्याकरण हैं। जो राजा, महाराजा, बड़े-बड़े लोगोंकी बातें कहकर सभी समाजोंको गुञ्जित करते रहते हैं--वे इतिहास हैं। जो जगत्के लौकिक लाभ-हानिका विचार करते-करते दिन बिताते हैं--वे गणित शास्त्र हैं। जो जड जगत्के विषयोंका चिन्तन करनेको ही पुरुषार्थ समझते हैं--वे भूगोल हैं। जो केवल रंग, रस, आमोद, विलासको ही जीवनका सार मान रहे हैं—वे नाटक हैं। जो परोपकार, सत्य, दया, निष्ठा, वेदाध्ययन, धर्मचर्चा आदिके द्वारा कालयापन करते हैं--वे धर्मशास्त्र हैं। जो विषय-विलासादि कार्योंसे अलग स्वतन्त्र रहकर भक्तिपूर्वक भगवान्की आराधना करना ही अपने जीवनका प्रधान कार्य समझते हैं--वे योगशास्त्र हैं।

इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य एक-एक ग्रन्थ है। जिससे तुम्हारा अपना जीवन-ग्रन्थ क्रमबद्ध सुचारुरूपसे लिखा जाय, जिससे कि तुम सबके पाठ्य बनो, तुम्हारी मृत्यु होनेपर भी तुम्हारा जीवन-चरित दूसरे जीवनमें फिर मुद्रित हो, तुम अपने इस जीवन-ग्रन्थकी रचना करो। समग्र पुस्तकके शेषमें लिखा रहे--'मृत्यु', जिससे कि यह बात कभी विस्मृत न हो।

मनुष्यमात्रको यह विचारपूर्वक सोचना चाहिये कि मैं कहाँ था, कहाँसे आया, किसलिये आया, आकर क्या किया, यहाँ मुझे कौन लाया, क्यों लाया, किस तरह लाया? यहाँ आकर कितना क्या देखा, कितना सुना, कितना बोला, कितना विचारा? देख-सुनकर, सोच-विचारकर कुछ भी तो ठीक नहीं कर सका। यहाँ माता-पिता प्राप्त हुए, स्त्री-पुत्र, बन्धु-बान्धव, धन-जन पाया और सुख आदि सब कुछ पा लिया; किंतु किसीसे तृप्ति नहीं हुई। अनेक भाषाएँ सीखीं; अनेक देशोंमें भ्रमण किया; अनेक वस्तुएँ देखीं; अनेक लोगोंके साथ निवास किया; किंतु प्राकृतिक सुख किसीमें भी नहीं मिला।

मन और बुद्धिका प्रणय नहीं हुआ, वे सर्वदा ही तुमुल संग्राम कर रहे हैं, प्रवृत्ति और निवृत्तिका विवाद लगा हुआ ही है। संसार-सागरमें प्रलय-तूफ़ान दिन-रात चल रहा है, जिस ओर दृष्टिपात किया जाय, उधर ही सम्प्रदायको लेकर मतभेद खड़ा है। सभी अपना मत स्थिर रखनेमें व्यस्त हैं। कोई कह रहा है, कोई सुन रहा है, कोई समझा रहा है, कोई चुप होकर तमाशा देख रहा है, कोई आन्दोलन करता है, कोई शासन करता है, कोई पालन करता है, कोई सिंहासन-पर बैठा हुआ है, कोई धरासनपर। कोई रोता है, कोई हँसता है और कोई अवाक् होकर बैठा हुआ है, संसारमें सभी घूर रहे हैं और चीत्कार कर रहे हैं। अनिश्चित संशयके स्रोतमें सभी बहे जा रहे हैं। यह सब देखकर, सुनकर चिन्ता ही बढ़ रही है, सुख किसीमें भी नहीं मिला। मानो किसी वास्तविक वस्तुके अभावमें इतना कष्ट—इतनी यन्त्रणा रात-दिन भुगतनी पड़ती है। जो भगवच्चिन्तनके गहरे समुद्रमें लीन हो रहे हैं--वे ही परम सुखी हैं। उनके मनमें किञ्चित् भी दूसरी भावना किंवा चिन्ता नहीं रहती। गुरु जिसे पहचाननेके लिये उपदेश देता है, भीतर, बाहर, पीछे और सम्मुख रहते हुए भी कोई उसे पकड़ नहीं सकता। अथवा उसने सबको धारण कर रखा है।

मैं कौन हूँ, उसका परिचय प्राप्त नहीं किया । मेरा कौन है यह भी नहीं समझा । तुम, मैं और वह आदि शब्दोंद्वारा किसका निर्देश किया जाता है—इसका भी तत्त्व नहीं जाना । जिसका संसार है, जिसका सर्वस्व है, जिसका मैं हूँ उसे समस्त समर्पण न करके मैं ही कर्ता बन बैठा हूँ । जिसका नाम लेनेसे आनन्द होता है, जिसका स्मरण करनेसे भयकी भावना दूर होती है, जिसका ध्यान करनेसे विपद्-सम्पद् समान रहती है, जिसके चरणोंका आश्रय ग्रहण करनेसे जीवको जन्म और मरण स्पर्श भी नहीं कर सकते, जब उसे जाननेका प्रयत्न नहीं किया, तब मनुष्य-जन्म पाकर क्या किया ?

मैं जन्मसे लेकर संसारके सुखमें आसक्त हूँ; क्योंकि संसारसे भिन्न और किसी सुखकी सामग्री मैंने कभी नहीं देखी । इस सुखके संसारका परित्याग करना होगा—यह स्मरण करते ही चिन्ताके समुद्रमें डूब जाना पड़ता है । मैं संसारका दास बनकर, संसारका अनुगत होकर, अपने जीवनको सुखी मान रहा हूँ । मैं प्राणकी अपेक्षा संसारको प्यार करता हूँ । जब यह सोचता हूँ कि इस घर, अट्टालिका, उद्यान, तालाब और विषय-सम्पत्तिका मैं ही एकमात्र अधिपति हूँ, तब मेरे हृदयमें आत्म-गौरव समाता नहीं है । जब देखता हूँ कि मेरी रूपवती भार्या, मेरे पुत्र, मेरे भृत्य—सभी विनीत भावसे मेरे मुखकी ओर ताकते रहते हैं, जब देखता हूँ कि विविध भाँतिकी सवारियाँ मेरे लिये सुसज्जित हैं, तब मेरे आनन्दकी सीमा नहीं रहती । जब मेरी सुख्याति घोषित हुई, राजदरबारमें सम्मान हुआ, सैकड़ों लोगोंके मुखोंसे अपनी प्रशंसा सुनी जाने लगी, तब आह्लादमें मग्न हो गया । संसारकी मोह-निद्रामें मैं इसी तरह डूब रहा हूँ ।

जब मनुष्यकी अवस्था अधिक हो जाती है, तब आत्म-ज्ञान होने लगता है, तब मोह-निद्रा भंग होती है; तब विषय-सुखकी कोमल शय्या उसे अच्छी नहीं लगती । सुखमय संसार विषके समान जान पड़ता है । भोग-विलास विकट वेशमें कारखानेके समान लगते हैं । चिरकालकी आनन्दभूमि निरानन्दमें बदल जाती है । सुरम्य वास-भवन कारागारके समान जान पड़ता है । स्त्री, पुत्र, विषय, सम्पद् आदि सामग्रियाँ मिलकर जैसे बन्धनकी शृङ्खला बनी हुई हैं । उस समय वह मन-ही-मन कहता है—संसार ! अब तुम्हारी गोदमें नींद नहीं लूँगा ।

जिस देशमें संध्या नहीं, निद्रा नहीं, स्वप्न नहीं, शोक नहीं, दुःख नहीं—मैं उस देशमें जाकर वहींके लोगोंके साथ रहूँगा । जिसका मधुर स्वर है, असीम दया है, अतुलनीय स्नेह है; मैं उसीके शरणापन्न हूँगा । उस समय अपने समस्त जीवनमें जो-जो अन्यायपूर्ण कार्य किये हैं वे सब याद आने लगते हैं और बड़ा दुःख होता है । उस स्थितिमें वह मन-ही-मन कहता है—दयामय हरि ! सुना है, तुम दयाकर भक्तोंके सहायक हो, तुम साधुओंके सर्वस्व हो, तुम्हारी महिमा अपार है । दीनबन्धो ! जो तुम्हारा आश्रय लेता है, तुम उसपर दया करते हो । हे अनाथोंके नाथ ! तुम्हारे स्वयं दिखायी न देनेपर कोई भी तुम्हें देख नहीं पाता । मैं महापापी हूँ; मुझे अभय-पदमें स्थान दो । किस पथका अवलम्बन करनेपर तुम्हें पाऊँगा—यह मुझे कृपाकर कह दो, क्या कहकर तुम्हें पुकारा जाय—यह मुझे बता दो । तुम्हारा आदि-अन्त जान लेना मेरे लिये साध्य नहीं है । दयाकर ! मेरी आशा पूर्ण करो ।

भोले मानव ! अपनेको बिना जाने, बिना पहचाने, तुम किसके सुखके लिये धर्मकी साधना करोगे । किसका बन्धन छुड़ानेके लिये ज्ञानका उपार्जन करोगे । पहले तत्त्व-निरूपण करके देखो । तुम्हारे दुःख किंवा बन्धन हैं कि नहीं [illegible] देखो, तुम कहाँ और किस अवस्थामें हो ? सर्वत्र ही आत्म-सत्ता वर्तमान

है । सुयोगके सहयोगसे जब आत्ममय जगत्को देखोगे, तब यह प्रत्यक्ष कर सकोगे—देख सकोगे कि तुम कौन हो और कहाँसे आये हो । उस समय किसी प्रकारका संशय और भेद-ज्ञान नहीं रहेगा ।

गुरु-चरणोंमें मन-प्राण अर्पण करके एक स्वरसे बोलो—'गुरुदेव ! अबोध शिष्यके प्रति कृपा वितरण कीजिये । आप मेरी गति हैं, आप ही मेरी मुक्ति हैं । आत्म-मन्त्रमें जिसका संकेत किया गया है, उसकी सम्पूर्ण सत्तामें मैं अपनी सत्ताका विसर्जन कर सकूँ—ऐसा मुझे आशीर्वाद दीजिये । यदि मैं यह न कर सकूँ तो मनुष्य-जीवन पाकर एवं आपके अभयपदमें शरणापन्न होकर मैंने क्या किया ! संसारमें सभी लोग अर्थ-चिन्तामें व्यस्त हो रहे हैं । संसारमें जितना अनर्थ—जितना कुछ अनिष्ट और जितनी कुछ दुर्घटनाएँ हैं, उन सबका मूल यही अर्थ है । अर्थ-हीन होनेमें जितना अनिष्ट है, अर्थशाली होनेमें भी उतना ही अनिष्ट है । अर्थ रहनेपर जगत् जितना क्षतिग्रस्त है, अर्थ न रहनेपर भी जगत् उतना ही क्षतिग्रस्त है । अर्थ ही चिन्ताका सहोदर है । तुम धनवान् हो, इसलिये तुम्हारी चिन्ताकी सीमा नहीं । मेरे पास धन नहीं, इसलिये मेरे कष्ट और चिन्ताका अन्त नहीं ।

तुम्हारे पास धन है, उसकी रक्षाके लिये, उसकी वृद्धिके लिये तुम सर्वदा ही विचार करते रहते हो । मेरे पास धन नहीं है, मैं किस प्रकारसे धनवान् बनूँ—किस उपायका अवलम्बन करनेसे अर्थोपार्जन होगा—इसी चिन्तामें देह जीर्ण हुआ जाता है । इसका संयोग भी असह्य है और वियोग भी असह्य है । इससे दूर रहनेपर भी निस्तार पानेकी सम्भावना नहीं । अर्थकी लीला-भूमि अदृष्ट-प्रारब्ध है । जिसका जैसा अदृष्ट हो, अर्थ उसके प्रति तदनुरूप ही व्यवहार करता है । ईश्वर ही इस अदृष्ट लिपिका लेखक है । वही जीवकी सुकृतिके अनुसार एवं पूर्वजन्मका कर्मानुयायी कर्मफल उसके अदृष्टमें लिपि-बद्ध करता है । अर्थ अपने लिखित अंशोंको कार्यमें परिणत करके कर्म-फल प्रदान करता है । अर्थ चिरकालसे चञ्चल है । कभी एक स्थानमें उसकी स्थिति नहीं रहती । उसके लिये कोई अगम्य स्थान नहीं, लज्जाका लेश भी नहीं । इसीलिये धोबी और चण्डालको भी वह आलिङ्गन करता है । अर्थ हृदय-हीन है । एकका सर्व-नाश करके दूसरेको सुखी करता है और फिर उसका सर्वनाश कर तीसरेकी वासना पूर्ण करता है ।

इस सामान्य अर्थके अतिरिक्त और एक अर्थ है, जिसकी तुलना नहीं । उस अर्थको पा लेनेपर और किसी अर्थका प्रयोजन नहीं रहता, वही अर्थ परम+अर्थ= परमार्थ है । मोक्ष-पद-प्राप्तिके लिये सदा सचेष्ट रहते हैं । यह परमार्थ ही संसारकी सार वस्तु है, अविनश्वर है और इसका फल अनन्त है । पार्थिव धर्म और अर्थ जीवनके अन्तमें लुप्त हो जाते हैं; किंतु परमार्थका नाश नहीं होता । वह आत्माके साथ गमन करता है । जिसकी जैसी इच्छा और भावना होती है, उसे उसी रूपमें सिद्धि मिलती है । आकाङ्क्षा न रहनेसे किसी कार्यमें प्रवृत्ति-भावना उत्पन्न नहीं होती । इसलिये उस कार्यमें उसे सिद्धि नहीं मिलती । मनुष्य जब जो कार्य करता है उसके सम्बन्धमें शुभाशुभ कामनाका भाव रहता ही है । बिना ऐसी किसी भावनाके वह उस कार्यमें प्रवृत्त नहीं होता ।

धार्मिक धर्मानुष्ठान करता है मुक्ति-कामनासे, चोर चोरी करता है अर्थ-कामनासे, मनुष्य विवाह करता है पुत्र-कामनासे, बालिका व्रत करती है गुणवान् पति-प्राप्तिकी कामनासे, इस प्रकार प्रत्येक कार्यके मूलमें ही कामना रहती है ।

कामनाके बिना कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती* । कार्य

* अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित । यद्यद्धि कुरुते किंचित तत्तत् कामस्य चेष्टितम ॥ (मनुस्मृति २ । ४)

न होनेसे संसार नहीं चलता और संसारके न चलनेसे सृष्टि-कर्ताकी सृष्टिका क्रम नष्ट होता है। इसपर कोई-कोई कह सकते हैं कि कार्यका अनुष्ठान करके उसके फलकी कामना करना अनभिप्रेत नहीं है। इसीलिये समस्त कार्योंकी कामना करना ईश्वरकी इच्छा है—जैसे श्रम करके अर्थोपार्जन करनेमें उसकी इच्छा है; किंतु कार्यके गुणागुणका विचार करना कर्तव्य है। कार्यके गुणागुणका विचार करनेमें विवेककी सहायता लेनी पड़ती है। विवेक सभी मनुष्योंको थोड़ा-बहुत रहता ही है। कार्यका गुणागुण इस विवेकके बलसे अपने-आप ही मनुष्यके मनमें उदित हो जाता है। मनुष्य जबतक अपने कार्यका अच्छा फल और विषमय फल नहीं जान पाता है, तबतक ही वह उस कार्यमें संलिप्त रहता है। कार्यका फल-ज्ञान हो जानेपर फिर वह उसमें रत नहीं रहता। कोई-कोई व्यक्ति किसी कार्यका बुरा फल जाननेपर भी उस कार्यको करता है, इसका कारण उसके हृदयकी दुर्बलता है। वास्तवमें सकाम कार्यसे स्वर्ग और निष्काम कार्यसे मोक्ष-लाभ होता है। सभी अच्छे-बुरे कर्मोंका फल है। फल रहनेसे ही उसका भोग है।

सभी अपने मनमें सोचते हैं कि मनुष्य स्वाधीन है; किंतु यह सोचना नितान्त भूल है। यदि मनुष्य स्वाधीन है तो उसकी इच्छा पूर्ण क्यों नहीं होती? जो स्वाधीन है, वह अपनी इच्छाको कार्यमें परिणत क्यों नहीं कर सकता? मनुष्यकी जितनी इच्छाएँ हैं, उतनी क्षमता नहीं—इच्छा पूर्ण करनेकी वासना रखनेपर भी वैसी उसकी शक्ति क्यों नहीं? मनुष्यकी इस दुर्दशाका कारण क्या है? मैं अपने प्राणको जानेके लिये नहीं कहता, फिर भी वह क्यों चला जाता है? जो मेरी आज्ञाकी अपेक्षा नहीं करता, कहनेपर बात नहीं सुनता, वह क्या मुझसे अधिक बलवान् नहीं है? इस सुख-दुःखमय संसारमें मैं अपनी इच्छासे नहीं हूँ। मैं जाना चाहता हूँ; परंतु जा नहीं सकता। मेरे अपने शरीरमें जो समस्त कार्य सञ्चालन हो रहे हैं, उनपर भी मेरा कोई अधिकार नहीं—नियन्त्रण नहीं। मस्तिष्कका कार्य, परिपाक-कार्य, शोणितका कार्य आदि सभी कार्योंपर तिलमात्र भी क्षमता नहीं। तब मैं स्वाधीन कैसे?

किञ्चित् विचार करनेपर अच्छी तरह समझा जा सकता है कि मेरे शरीरमें मेरी अपेक्षा क्षमतापन्न कोई और है, मनुष्यमात्र ही पूरी तरह उसीके अधीन हैं। मनुष्यकी शक्ति—चाहे इच्छासे हो, चाहे अनिच्छासे, उसी महती अनन्तशक्तिके अधीन है। इसीलिये मैं 'मेरी-अपना' नहीं हूँ। मैं उसे नहीं पहचानता, जिसने अपनेको पहचान लिया है, उसने भगवान्को भी जान लिया है और संसार क्या है, यह भी अच्छी तरह समझ लिया है। संसार एक वृक्ष-विशेष है। आशा इस संसार-वृक्षकी मञ्जरीस्वरूप, दुःखादि फल, भोग पल्लव, जरा कुसुम एवं तृष्णा उसकी शाखा-स्वरूप है। परब्रह्म ही इस जगत्की उत्पत्तिका कारण है। उस ब्रह्मके अतिरिक्त दूसरी कल्पना ही नहीं है*। वह्निसे उत्पन्न अग्नि जैसे वह्नि ही है, वैसे ही ब्रह्मसे उत्पन्न यह जगत् ब्रह्म ही है। वस्तुतः संसार या जगत् नहीं—सब कुछ केवल ब्रह्म ही है। जिस प्रकार अन्धकार दूर होनेपर यह दृश्य जगत् दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार इस अवस्तुके क्षय होनेसे जो वस्तु है, वह अपने निर्मल रूपमें स्पष्टतया दिखायी देती है।

* नहि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतया स्वकृतमनुप्रविष्टमिदमात्मतयावसितम् ॥

(श्रीमद्भा० १०।८७।२६)

वेणुगीत

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

[गताङ्क-सं० ८, पृ० ८९६ से आगे]

आँखका फल क्या है ? वस्तुतः जितनी इन्द्रियाँ हमें मिली हैं, वे सभी भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके साधनके लिये मिली हैं; भोग या पापके लिये नहीं। इन इन्द्रियोंके द्वारा जब हम पाप करनेमें प्रवृत्त होते हैं, तब बेचारी इन्द्रियाँ एवं इन्द्रियोंको लेकर आनेवाला जीवात्मा अंदर-ही-अंदर रोता है। रोनेका अर्थ यह है कि यह जीव ही अन्तःकरण-विशिष्ट होकर अन्तःकरणमें होनेवाले सारे विकारोंको अपनेमें समझता है। वह नित्य दुःखी रहता है। कभी किसीने भी आजतक भोगोंके द्वारा सुख प्राप्त नहीं किया, न कर ही सकता है और न कर ही सकेगा। भोग **'दुःखयोनयः'**——दुःखयोनि हैं, दुःखोत्पादनके क्षेत्र हैं, दुःखमय हैं, दुःखालय हैं। इनमें सुखकी प्रतीति और सुखकी आशा ही मोह है, यही माया है, यही अज्ञान है। इसीका नाश करना है। निरन्तर दुःखी रहता हुआ भी जीव भ्रमवश भोगोंमें सुखकी आस्था करके अज्ञानसे मन-इन्द्रियोंद्वारा अपनेको विषयोंमें लगाता है। आँख आदि इन्द्रियाँ भोगोंके लिये नहीं मिली हैं। इन सबका सदुपयोग है भगवान्‌के साथ जुड़ जानेमें। जब आँख इस प्रकारकी बन जाती है, तब कण-कणमें भगवान्‌का स्वरूप प्रकट हो जाता है और आँखें सर्वत्र भगवान्‌को ही देखती हैं——**'जित देखौं तित स्याममई है'**। नेत्रवालोंके जीवनकी सार्थकता यही है।

श्रीगोपाङ्गनाएँ परम प्रेमके भावसे विवश हैं, इसलिये नेत्रोंकी सार्थकता किसमें होती है, उसे व्यक्त करनेमें मानो असमर्थ होकर बस केवल **'अक्षण्वतामिदम्'** यही सार्थकता है, इस प्रकारका संकेत करने लगीं। शुकदेवजीने **'इदम्'** शब्दसे गोपाङ्गनाओंकी प्रेम-परवशताका संकेत किया है।

भाव धैर्यके रूपमें परिणत होनेपर गोपाङ्गनाएँ कहने लगीं——'सखी ! गायोंके पीछे-पीछे नाना प्रकारके संकेत और मधुर शब्द करते हुए श्यामसुन्दर वनमें प्रवेश करते हैं। उनके साथ अगणित समानवयःशीलवाले बालक हैं। उनसे वे घिरे हुए वनकी ओर अग्रसर हो रहे हैं। उन श्रीव्रजेन्द्रकुमार श्रीकृष्ण और बलरामकी मुख-माधुरी——वदन-माधुरीका जिन नयनोंने आस्वादन किया है, वे ही सार्थक हैं। जिन नयनोंको उस मुख-सौन्दर्य-माधुर्यके आस्वादनका सुअवसर नहीं मिला, उन नेत्रोंकी कोई सार्थकता नहीं। विधाताने उन नेत्रोंका सृजन व्यर्थ ही किया।

यहाँपर **'व्रजेशसुतयोः'** कहा है। श्रीकृष्णगृहीत-मानसा गोपियाँ श्रीकृष्णकी बात कहते-कहते दोनोंकी बात कहने लगीं। प्रेमका स्वभाव ही है गोपनीयता। प्रेम खुलकर नाचता नहीं, कर्म खुलकर नाचता है। ज्ञानमें सारा नाच बंद हो जाता है। पर प्रेम नाचता है, बहुत नाचता है। निरन्तर नृत्य करता है। हृदयको आन्दोलित करता रहता है। यह सबको नचा देता है। प्रेम भगवान्‌के उच्छलित आनन्दका स्वरूप है। जो शान्तानन्द यहाँ गूढानन्द-प्रशान्त है वह भगवान्‌का उच्छलितानन्द आनन्दमें निमग्न होकर नाचता है और सबको नचा देता है; परंतु इसमें गोपनीयता रहती है। छिपे-छिपे नाचना यह इसका स्वभाव होता है।

श्रीगोपाङ्गनाएँ अपनी सखियोंसे ही वर्णन कर रही हैं। वे अपने मनके गुप्त भावोंका ज्ञापन करना कदापि नहीं चाहतीं; किंतु अपने मनकी बात अपनी अन्तरङ्ग सखियोंसे कहती हैं। वे श्रीकृष्णके विषयमें स्पष्टरूपसे न कहकर ... [illegible]

लेती हैं। गोपियोंके **'व्रजेशसुतयोः'** कहनेपर शङ्का होती है कि नन्दबाबाने श्रीकृष्णको अपना पुत्र न होते हुए भी अपना पुत्र मान लिया था, अतः उनके लिये 'व्रजेश-सुत' कहना तो संगत माल्रुम होता है; पर बलरामजीको 'व्रजेश-सुत' क्यों कहा ? वस्तुतः व्रज गायोंके समूहका ही नाम है। नन्दव्रज अलग, भानुव्रज अलग—ये सब अलग-अलग व्रज थे। वसुदेवजीका भी अपना व्रज था। उनके भी अधिक गायें थीं। **'वासुदेव इति ख्यातिर्देशस्तिष्ठति भूतले'**—हरिवंशपुराणमें ऐसा वर्णन आया है कि बलदेवजीके पिता वसुदेवजीके भी बहुत गौ-समृद्धि थी। अतएव उन्हें भी उस व्रजका स्वामी होनेके कारण 'व्रजेश' कहा करते थे। इस प्रकार वसुदेव-व्रज नाम भी था, अतएव उस व्रजका स्वामी होनेसे बलरामजीको 'व्रजेश-सुत' कहना शुकदेवजीके लिये कोई अयुक्त नहीं है। दूसरी बात यह भी थी कि पालने-वाला पिता होता है। नन्दबाबाने श्रीकृष्ण और बलदेव—दोनोंको समान भावसे, समान स्नेहसे, समान वात्सल्यसे पाला था। जब नन्दबाबा अन्य गोपोंके साथ मथुरामें वसुदेवजीसे मिले तो वसुदेवजीने कहा—**'भ्रातः सुतः कच्चिद्‌…तातं भवन्तम्‌…।'** भैया नन्दजी ! मेरा एक बेटा तुम्हारे यहाँ अपनी माँके साथ रहता है और तुम्हींने उसे पाला-पोसा है; अतएव तुम्हें ही वह पिता मानता है।' इस प्रकार बलदेवजीको 'व्रजेश-सुत' कहना मिथ्या नहीं है।

श्रीकृष्णके प्रति अपने आन्तरिक भावको छिपाकर वे दोनोंके लिये कह रही हैं। आगे चलकर शुकदेवजीने इसका संकेत भी कर दिया है। महानुभाव आचार्योंने, भाष्यकारोंने, श्रीमद्भागवतके टीकाकारोंने इसे समझा है, देखा है। अंदरके भावोंको छिपाकर प्रियतम श्रीकृष्णके माधुर्यका ही वर्णन करनेमें प्रवृत्त श्रीगोपाङ्गनाएँ श्रीकृष्ण और बलदेव—दोनोंका वर्णन करने लगीं—सखी ! ये दोनों [illegible] बड़े सुन्दर और मधुर [illegible] हैं। इनकी मुख-माधुरीका—इनकी वदन-माधुरीका जिन्होंने आस्वादन नहीं किया, उनके नेत्र सफल नहीं हैं। उनके मनमें नाना प्रकारके भावोंका वेग चल रहा था तथा नये-नये भावोंकी एवं नयी-नयी माधुरीकी उद्भावना तथा स्फूर्ति उनके मन और हृदयमें होने लगी। सखियाँ परस्पर चर्चा करने लगीं—'इनकी वदन-माधुरीके सम्बन्धमें क्या कहा जाय। ये दोनों भाई जब गोचारणके लिये गोपबालकोंसे घिरकर वनमें प्रविष्ट होते हैं और पशुओंको आगे करके मधुर-मधुर स्वर और संकेत करते हुए गायोंके पीछे-पीछे चलते हैं, तब इनकी मोहिनी वंशीसे परिसेवित और स्निग्ध कटाक्षसे समन्वित वदन-माधुरीका आस्वादन जो कर पाते हैं, वास्तवमें उन्हींके नेत्र सफल हैं।' वर्णनका भाव यही है कि हृदयमें भावका उच्छ्वास आ जानेपर न माल्रुम यह क्या कर दे ? अतः भावोच्छ्वास बाहर निकलनेसे कुछ हल्का हो जाय इस-लिये वे इस प्रेम-चर्चामें प्रवृत्त हुईं। रसशास्त्रमें इसीका नाम है 'अवहित्था भाव' अर्थात् मनकी बातको छिपाकर भी अपनी बातको व्यक्त कर देना। इसीलिये आत्मगोपन करती हुई वे श्रीकृष्ण और बलदेव—दोनोंकी बातें कहने लगीं; किंतु उन्हें कहनी तो है एक ही बात—**'वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणुजुष्टम्‌।'** महाभाग्यवती व्रज-रमणियोंका भाव यही है। वंशी बजा रहे थे केवल श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण। बलदेवजीके तो हाथमें छोटा हलिया था, वंशी नहीं थी। शुकदेवजीने 'अनुपद' कह-कर संकेत किया है कि समवयस्क गोपबालकोंके साथ उनसे घिरे हुए जो दोनों व्रजराजनन्दन गोचारणके लिये जा रहे थे, उनमें जो पीछे-पीछे जा रहे थे उनके मोहन-वेणुविचुम्बित वदनका—अधरोंपर खेलती हुई मुरलीसे लाड़ित मुख-सरोजका जिनके नेत्र-कमलोंने पान नहीं किया, वे नयन सार्थक नहीं। जिन्होंने पान किया, वे सार्थक हैं। भाग्यवती श्रीगोपियोंके अन्तरका भाव यही है [illegible] श्रीकृष्णके लिये ही ये परमासक्त-मना हैं, यह प्रकट न होने पाये

इसलिये दोनोंके नाम लेती हैं। सच तो यह है कि श्रीव्रजरमणियोंके भावकी भाषाको समझनेके लिये इनकी कृपा ही अवलम्बन है। उनकी शरणागतिके बिना काम नहीं होता। उन व्रजरमणियोंकी—व्रजदेवियोंकी कृपासे ही उनके मनोंके भावोंका किसी-किसीके हृदयमें किसी अंशमें उदय होता है। विद्यासे, बुद्धिसे, बाह्य ज्ञान-युक्तियोंसे, तर्कसे अथवा वादसे इन भावोंका उदय नहीं होता। जो इन परम भाग्यवती, परम त्यागमयी, मुक्ति-भुक्ति-स्पृहारहित, स्वसुख-वाञ्छाकल्पनालेश-विहीन श्री-गोपाङ्गनाओंके चरणोंकी शरण लेता है, उसीको उन पदरजकणसे उन भावोंकी प्राप्ति होती है। इन गोपाङ्गनाओंकी पदरज उद्धवने चाही थी।

उद्धवजी चाहते हैं—'मैं वृन्दावनमें कोई गुल्म, लता, ओषधि बन जाऊँ, जिससे मेरे जड-रूपमें रहनेपर भी इन गोपाङ्गनाओंके चरणोंकी धूल मुझपर पड़ती रहे।' इनकी चरणरेणुके प्रसादसे ही ये भाव मनमें उदय होते हैं। शुकदेवजी इस भावमें सिद्ध थे। उन्होंने इन भावोंको समझा। इसलिये यहाँ **'निपीतम्'** कहा। **'निपीतम्'** न कहकर **'दृष्टम्'** कहते, देखा कहते तो क्या हानि ? अर्थात् वदन-माधुरीका आस्वादन या माधुर्यका रसपान जिन नेत्रोंके द्वारा होता है ऐसे नेत्र उन्हें नहीं मिलते, जिनका गोपीहृदय नहीं है और गोपीहृदय वे ही हैं, जिन्होंने सर्वत्याग कर दिया है। लोक, परलोक, धैर्य, कुल-शील, मान, सुख, सम्भोग, भोग, मोक्ष—सबका जिनके द्वारा परित्याग हो गया है। इस प्रकारका हृदय हुए बिना उस वदन-माधुरीरसका पान नहीं होता, देखना कहीं-कहीं हो जाता है। असुरोंने भी देखा भगवान्के अरुण-अरुण रक्तिम क्रोधयुक्त नेत्रोंको, कृतार्थ वे भी हुए। मुक्ति उनकी भी हुई; परंतु उनकी आँखोंने रसपान नहीं किया। बड़े-बड़े साधियोंने तथा ऋषियोंने भी देखा, पर उनकी आँखोंने वदन-माधुर्यका रसपान नहीं किया, आस्वादन नहीं किया। इस वदन-माधुरीका आस्वादन यहाँपर गोपियोंके द्वारा हुआ, इसलिये शुकदेवजीने **'निपीतम्'** कहा, **'दृष्टम्'** नहीं कहा। **'दृष्टम्'** कहनेसे गोपाङ्गनाओंके प्रेमकी अवहेलना होती है। देखा तो बहुतोंने था, परंतु उसमें क्या विशेषता हुई ? गोपियोंने केवल देखा नहीं, समास्वादन किया, आस्वादन किया उस रसका। गोपियाँ बोलीं—'सखी ! हमारे व्रजराजनन्दन अपने अनुरक्त प्रेमीजनोंके प्रति निरन्तर कटाक्षपात किया करते हैं। स्निग्ध कटाक्षपात, स्नेहभरा कटाक्ष, जिसके अंदर पवित्र, विमल रसकी धारा बहती है, जिसे देखते ही जीवन रसमय हो जाता है, सारे विरस, अरस, कुरसका अन्त हो जाता है। ये रस भगवान् हैं। उपनिषद्में भगवान्का वर्णन आया है **'रसो वै सः'**—वही रस है। उनके अतिरिक्त जगत्के जो रस हैं, वे कुरस हैं, विरस हैं अथवा अरस हैं। रस है ही नहीं। रस मान लिया—यह भ्रम है। केवल मृगतृष्णा है। तप्त बालुकाराशिसे भरे मैदानमें कहीं जल नहीं है, रस नहीं है, पर हरिणोंकी टोली हवाके कारण बनी लहरोंको बालुकामें देखकर भ्रमवश उसे जल मानकर पीनेको दौड़ती है और तप्त बालुकामें जलकर दग्ध हो जाती है। इसी प्रकार अरसमें रसकी भावना हमलोग करते हैं। भोगमें सुख देखनेवाले लोग उसमें न होनेपर भी सुख ढूँढ़ते हैं। यह अरसमें रसकी कल्पना है। जो सारे रसको सुखा देता है, रसका दाह करनेवाला होता है, वह विपरीत रस है। यही संसारके भोगोंमें परिव्याप्त है। जो जीवनको नीचे उतार दे, जीवनके स्तरको अधोगतिमें ले जाय, जिसके द्वारा मानवका पतन हो जाय, वही कुत्सित रस है, कुरस है। कुरस, विरस, अरस—ये भगवद्रस नहीं हैं। रस-रूप भगवान् ही परम रस हैं। उनके नेत्रोंका कटाक्षपात ही उस निर्मल पवित्र दिव्य रसका प्रवाह बहाता है। (क्रमशः

भजनका प्रभाव

(एक भक्त-चरण-रजोऽभिलाषी)

[गताङ्क-सं० ८, पृष्ठ ८९१से आगे]

कामना ही सारे दुःखोंकी जड़ है, जिसने संसारके सुखभोगकी वासनासे हमारी आत्मापर मोहका पर्दा डाल रखा है और इसी कारण हम दुर्लभ मनुष्यदेह पाकर भगवान्से अनित्य सुखभोगोंको माँगा करते हैं, जिसका परिणाम अन्तमें दुःख ही होता है । इन भक्तोंकी कोटिमें सुग्रीव, विभीषण, उपमन्यु आदि हैं । यद्यपि ऊपरसे सभीने सुखभोग नहीं माँगा, तथापि इनमें भीतर-ही-भीतर सुखकी इच्छा बनी थी । भगवान्ने उन्हें पात्र समझकर दिया । पर भगवद्-भजनकी कुछ ऐसी महिमा है कि चाहे किसी प्रकारसे भी क्यों न भजें, परिणाममें वह आपको ज्ञानी बना ही देगा । इसीलिये भगवान्ने इन चारों प्रकारके भक्तोंको 'उदार' कहा है । 'उदार' इसलिये कहा कि ये भगवत्-शक्तिका पल्ला पकड़ते हैं, क्षुद्र सांसारिक शक्तियोंका नहीं । जो सांसारिक पदार्थोंकी ममता न छोड़ सके, उसे 'कृपण' कहते हैं और जो किसी भी प्रकारसे हो, भगवान्का पल्ला पकड़ लेता है, वह हो गया 'उदार' और समय पाकर वही ज्ञानी भक्तोंकी कोटिमें भी आ जाता है । यही है भगवान्की कृपा ।

भगवान्के प्राप्त होनेकी शर्त केवल एक ही है—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

मन कपटरहित—निर्मल होना चाहिये । बस, फिर सफलता आपके सामने है । मैले जलमें, धूलभरे दर्पणमें, कीचड़में प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, तो इसमें सूर्यका दोष नहीं । वैसे ही हमारा अन्तःकरण यदि शुद्ध नहीं तो भगवान्के दर्शन हमें कैसे होंगे । फिर भी भजनका प्रताप कुछ ऐसा है कि छल, कपट, कुभाव, कुमति, आलस्य या प्रमादसे—किसी प्रकारसे भी भगवान्का भजन-स्मरण किया जाय तो उसका फल यह होता है कि समय पाकर ये सभी सद्गुण बन जाते हैं; क्योंकि भजन रसायनरूपी अमृत-औषध है, जो समय पाकर सब रोगोंको दूर कर ही देगी । पुराणोंमें ऐसी कथाएँ हैं । न मानें तो परीक्षा करके देख लें । किसी भी रीतिसे अनन्यभावसे भजन, स्मरण, कीर्तन, चिन्तन करके देख लें, कुछ दिनोंमें आपको आनन्द आने लगेगा । फिर आप ही कहेंगे कि बस, आनन्द-ही-आनन्द है । भगवान् कहते हैं—'बड़े-से-बड़ा दुराचारी भी यदि अनन्यभावसे मेरा भजन करने लगता है तो वह भी शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और शाश्वती शान्तिको प्राप्त होता है ।' जो भजन सच्चे हृदय और पूरे उत्साहसे किया जाता है, वह बिजलीके सदृश अपना प्रभाव रखता है । ऐसे भक्तोंके सङ्गसे अभक्त भी भक्त और नास्तिक भी आस्तिक हो जाते हैं । ज्ञानीको तो भगवान्ने अपना आत्मा कहा ही है, पर वे अज्ञानी भी, जिन्हें छल-कपट नहीं छू गया है, जो शिशु-जैसे सरलहृदय हैं और यह कहकर भगवान्का ध्यान करते हैं कि 'हे प्रभो ! हम निपट अज्ञानी हैं, नहीं जानते कि आपका कैसे ध्यान करें । आप चाहे जैसे हों, हमपर दया करें', परम ज्ञानियोंसे कम नहीं हैं; क्योंकि चाहे कैसा ही ज्ञानी क्यों न हो, उसे भगवान्का बहुत अल्प ही ज्ञान होगा; क्योंकि वह तो अनादि-अनन्त है । हमें जितना समझने देता है, हम उतना ही समझ पाते हैं, इसलिये हम बिलकुल नहीं समझ सकते, इस प्रकार समझनेवाले भक्तका विश्वास भी अवश्य ही श्रेष्ठ है; क्योंकि बिल्कुल न समझनेपर भी भगवान्की सत्तामें तो उसे विश्वास है । शिशु-सदृश सरलहृदय होकर—जैसे शिशु पूरे विश्वाससे अपनेको 'माँ'की गोदमें डाल देता है, वैसे ही जो भक्त अपनेको अज्ञ जानते हुए

पूरे विश्वासके साथ उस विश्वमाता, जगज्जननीकी गोदमें डाल देते हैं, उनका सब भार भगवान्‌को सँभालते ही बनता है। भगवान् माता, पिता, स्वजन, सुहृद् होकर सभी प्रकारसे उसकी रक्षा करते हैं—उसका योगक्षेम वहन करते हैं। भगवान्‌का भजन और सदाचरण करते हुए भी कभी-कभी सांसारिक आपद्-विपद् आ जाती है, इससे घबराना नहीं चाहिये। यह एक प्रकारका हमारे पूर्वपापोंका फल है, जो शीघ्र ही कटता है।

अहल्या-उपाख्यानमें अहल्या भगवान्‌से कहती हैं—

मुनि श्राप जो दीन्हा अति भल कीन्हा परम अनुग्रह मैं माना।
देखेउँ भरि लोचन हरि भव मोचन इहइ लाभ संकर जाना॥

सुग्रीव श्रीरामजीसे कहते हैं—

बालि परम हित जासु प्रसादा। मिले राम तुम्ह समन बिषादा॥

यह बात ध्यान देकर सोचनेपर सत्य या नित्य सत्य प्रत्यक्ष होती है। भक्तोंका कष्ट तो क्षणस्थायी होता है ही। दुःखके पश्चात् सुख अवश्यम्भावी है, घोर उत्तापके बाद वर्षा अवश्यम्भावी है और उस वर्षाका आनन्द पावसके मोरोंको नाचते देखकर अनुभव होता है। तुलसीदासजी कहते हैं—

जो अति आतप ब्याकुल होई। तरु छाया सुख जानइ सोई॥

पुराणोंमें तो सैकड़ों ऐसी कथाएँ हैं, जहाँ भक्तोंको कठिन परीक्षामें डालकर उन्हें खरा सोना बनाया गया है। एक मुसलमान भक्त नजीरजी कहते हैं—

राजी हैं हम उसीमें, जिसमें तेरी रजा है।
यहाँ यों भी वाह वाह है, और त्यों भी वाह वाह है॥
पालेगा असरतोंसे तो ऐशसे पलेंगे।
जिल्लतमें डाल देगा तो जिल्लतमें जा सकेंगे॥
जिन्नतको ले चलेगा, तो जिन्नतको उठ चलेंगे।
दोजखमें डाल देगा तो दोजखमें जा जलेंगे॥
पर जबतक दममें दम है, हम तो यों ही कहेंगे।
राजी हैं हम उसीमें, जिसमें तेरी रजा है॥

यह है सच्चे भक्तकी उक्ति—'पूरे हैं वही, जो हर हालमें मस्त हैं।' उन्हें तो दुःखका भान ही नहीं होता, यदि कुछ होता भी है तो स्वप्नावस्थाकी भाँति प्रारब्धका भोग भोग लेते हैं और फिर खरे सोने-के-सोने। किसीने तो यहाँतक कहा है कि—

पारसमें अरु संतमें बड़ो अंतरो जान।
वह लोहा सोना करे, वह करै आपु समान॥

संतोंकी महिमा कहाँतक कही जाय—

जो सहि दुख पर छिद्र दुरावा। बंदनीअ जेहि जग जस पावा॥

आप दुःख सहकर दूसरोंका छिद्र ढकते हैं। जैसे वस्त्र बननेके पहले रूई धुनी, कूटी, पीटी और फटकारी जाती है, फिर बटा जाता है, इसके बाद वह धोबियोंके पाटकी, कुन्दीगरके यहाँ मोगरियोंकी मार सहकर, वस्त्र बनकर लोगोंके छिद्रको ढकती है, उनका शीत निवारण करती है, वैसे ही संत होते हैं। रामायणमें तो जगह-जगह उनकी महिमा कही गयी है। तुलसीदासजीने तो यहाँतक कह दिया है कि 'साक बनिक मनि गुन गन जैसें'—भक्ति मणिरूप है, मैं शाक बेचनेवाला उसकी महिमा कैसे वर्णन कर सकता हूँ। संतोंकी सबसे बड़ी पहचान यही है कि वे दूसरोंकी सेवा करना ही अपना धर्म समझते हैं, सेवा करवाना नहीं। वे भक्त भक्त ही नहीं, जो तुलसीदास-जीके शब्दोंमें—बहुत प्रीति पुजाइबे पर, पूजिबे पर थोरि। के समान हैं।

इसीसे असली-नकली संतकी पहचान हो सकती है। चाहे वह संतोंके वेषमें हो या न हो, सेवापरायण जीव ही सच्चा भक्त है। इसीलिये यह लेख 'भज सेवायाम्' इस वाक्यसे आरम्भ किया गया और इसी वाक्यमें समाप्त किया जाता है। भजनकी महिमापर तो वेद-पुराणादि अगणित ग्रन्थ हैं। इस छोटेसे लेखमें केवल दिग्दर्शन-मात्र किया गया है। भगवान्‌ने गीताका उपसंहार—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(१८। ६६)

—इन शब्दोंमें किया है। यह सर्वसमर्पण ही यथार्थ सेवा है। (समाप्त)

साधकोंके प्रति—

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[अच्छे बनो]

अगर मनुष्य अपनी चीज (परमात्मा) को अपनी मान ले, परायी चीज (शरीर-संसार) को अपनी न माने तो बस, एकदम मुक्त हो जाय——इसमें किञ्चिन्मात्र भी संदेह नहीं है। गीतामें जहाँ गुणातीत महापुरुषके लक्षण लिखे हैं, वहाँ **'समदुःखसुखः स्वस्थः'** लिखा है (१४ । २४)। जो अपने-आपमें, अपनी जगह स्थित हो जाता है, वह सुख-दुःखमें सम हो जाता है, मुक्त हो जाता है। यह जो दूसरेसे आशा रखना है, यह महान् कायरता है, बड़ी भारी निर्बलता है। यह कायरता, निर्बलता अपनी बनायी हुई है, मूलमें है नहीं। आप अपनी जगह बैठें, अपनी चीजको अपनी मानें, परायी चीजको अपनी न मानें——इसमें निर्बलता, कठिनता क्या है ?

दूसरे लोग मुझे क्या कहेंगे, क्या समझेंगे——यह भय महान् अनर्थ करनेवाला है। इस भयको छोड़कर निधड़क हो जाना चाहिये। दूसरे खराब कहते हैं तो हम डरते हैं, तो क्या दूसरे खराब नहीं कहेंगे ? वे तो जैसी मरजी होगी, वैसा कहेंगे। हम भयभीत हों तो भी वे वैसा ही कहेंगे और भयभीत न हों तो भी वे वैसा ही कहेंगे। उनके मनमें जैसी बात आयेगी, वैसा वे कहेंगे। क्या हमारे भयभीत होनेसे वे हमें अच्छा कहने लग जायँगे ? यह सम्भव ही नहीं है। दूसरे क्या कहते हैं——इसे न देखकर अपनी बातपर डटे रहें, अपने कामपर ठीक रहें, यह बहुत बड़े लाभकी बात है।

अभी हालकी बात होगी——एक प्रसङ्ग चला तो मैंने कहा—आपके निःशङ्क, निर्भय होनेमें एक ही बात है कि अगर आपको कोई खराब कहे तो आप अपनी दृष्टिसे अपनेको देखें कि मैंने तो कोई गलती नहीं की, न्याय-विरुद्ध कोई काम नहीं किया। इस तरह अपनेपर आप जितना विश्वास कर सकें, दृढ़तासे जितना रह सकें, उतना रह जाइये तो आपके सब भय मिट जायँगे। जिन्हें सुनाया, वे कहने लगे कि बहुत ही बढ़िया बात है। हमने जब कोई गलती नहीं की तो डर किस बातका ? अपने आचरणपर, अपने भावपर आप दृढ़ रहें। इससे बड़ा भारी बल मिलता है। उनके सामने तो मैंने यह भी कहा कि इसे मैंने करके देखा है। आप भी करके देख लें। हम जब ठीक हैं, सच्चे हैं, तो फिर भय किस बातका ? अपनेपर अपना विश्वास न होनेसे ही अनर्थ होते हैं। हम जब अपनी जगह बहुत ठीक हैं, हमारी नीयत ठीक है, कार्य ठीक है, विचार ठीक है, भाव ठीक है, तो फिर दूसरेसे कभी किञ्चिन्मात्र भी आशा मत रखें, इच्छा मत करें कि दूसरा हमें अच्छा समझे। दूसरेके बुरा समझनेसे भय मत करें। दूसरा कितना ही बुरा समझे, हम तो जैसे हैं, वैसे ही रहेंगे। अगर हम अच्छे नहीं हैं और सब लोग हमें अच्छा समझते हैं, तो क्या हमारा अच्छापन सिद्ध हो जायगा ?

श्रोता—यदि अपनी गलती अपनेको दीख न पड़े तो ?

स्वामीजी——अपनी गलती अपनेको दीख न पड़नेका कारण है——स्वार्थ और अभिमान। स्वार्थ और अभिमानसे ऐसा ढक्कन लग जाता है कि अपनी चीज अपनेको नहीं दीखती। अतः स्वार्थ और अभिमान न करें। उसमें भी अनुचित स्वार्थ और अभिमान बिल्कुल न करें, तो इससे भी काम बन जाय। स्वार्थ और अभिमानका त्याग करनेसे बहुत प्रकाश मिलेगा और अपनी चीज दीखने लग जायगी।

❁

एक उपाय यह है कि अपनेमें जो अवगुण दीखें, उन्हें दूर करते जायँ। ऐसा करनेसे आपके न दीखनेवाले अवगुण भी दीखने लग जायँगे। अत: जिन अवगुणोंका आप सुगमतासे त्याग कर सकते हैं, उनका त्याग कर दें तो जिन अवगुणोंके त्यागमें आपको कठिनता दीखती है, उनका त्याग सुगमतासे होने लगेगा और न दीखनेवाले अवगुण दीखने लग जायँगे। यह बड़ा भारी रामबाण उपाय है, आप करके देखें।

सत्संगके द्वारा जिन-जिन कमजोरियोंका ज्ञान हो, उनमें जिन कमियोंको सुगमतासे दूर कर सकते हैं, उन्हें दूर कर दें। जैसे कल्पना करें कि हमारी झूठ बोलनेकी आदत है, तो जिस झूठसे हमारा कोई संसारका, रुपये-पैसोंका मतलब नहीं है, ऐसा झूठ न बोलें। हम बिना मतलब झूठ बोलते हैं कि 'अरे भाई! उठ जा, दोपहर हो गया, उठता ही नहीं।' अगर हम सची बात बोलें कि 'सूर्योदय हो रहा है, उठ जा' तो इसमें क्या हर्ज है? बिना मतलब झूठ बोलेंगे तो आदत बिगड़ जायगी।

जो अवगुण साफ दीखता है, जिसे दूर करनेमें कोई परिश्रम नहीं, कोई हानि नहीं, उसे आप दूर कर दें तो अवगुण साफ-साफ दीखने लग जायँगे। अगर अपना अवगुण न दीखे तो इसकी चिन्ता मत करें और अवगुणको अपनेमें कायम भी मत करें; क्योंकि स्वरूपमें कोई अवगुण नहीं है। नीयत यह होनी चाहिये कि अपना अवगुण, अपनी कमी हमें रखनी नहीं है।

अगर आप अपनेको ही नहीं सुधार सकते, तो दूसरेको सुधार सकते हैं क्या? सची बात तो यह है कि अपना सुधार कर लेनेपर भी दूसरेका सुधार कोई नहीं कर सकता। बड़े-बड़े महात्मा हुए हैं, आचार्य हुए हैं, वे भी [illegible] दूसरेको अपने समान नहीं बना सके। मैं आक्षेपसे नाम नहीं लेता हूँ, बहुत विशेष आदरसे नाम लेता हूँ कि शंकराचार्य महाराजने दूसरा शंकराचार्य बना दिया क्या? रामानुजाचार्य महाराजने दूसरा रामानुजाचार्य बना दिया क्या? वल्लभाचार्य महाराजने दूसरा वल्लभाचार्य बना दिया क्या? अगर शिष्य चाहे तो गुरुसे तेज हो सकता है, पर गुरु उसे वैसा नहीं बना सकता, इस बातपर आप विचार करें। अपनेको श्रेष्ठ बनाना तो अपने हाथकी बात है, पर दूसरेको श्रेष्ठ बनाना अपने हाथकी बात नहीं है।

जितने भी श्रेष्ठ गुरु हुए हैं, उनका उद्योग यही रहा है कि शिष्य हमसे भी अच्छा बने। वे शिष्यको अपनेसे नीचा नहीं रखना चाहते। जो शिष्यको अपने मातहत, अपने अधीन रखना चाहते हैं, वे वास्तवमें गुरु कहलानेलायक नहीं हैं। गुरु तो गुरु ही बनाता है, चेला नहीं बनाता। शास्त्रमें लिखा है—

सर्वतो जयमिच्छेत पुत्रादिच्छेत् पराभवम्।

अर्थात् मनुष्य सब जगह अपनी विजय चाहे, पर पुत्रसे अपनी पराजय चाहे। ईमानदार पिताको यह इच्छा रखनी चाहिये कि मेरा पुत्र मुझसे तेज हो जाय। ऐसे ही ईमानदार गुरुको यह इच्छा रखनी चाहिये कि मेरा शिष्य मुझसे तेज हो जाय; परंतु ऐसी इच्छा रखनेसे वह तेज नहीं हो जाता। हाँ, अगर वह (पुत्र या शिष्य) खुद चाहे तो वैसा हो सकता है, एकदम पक्की बात है। खेड़ापामें श्रीरामदासजी महाराज हुए। उनके शिष्य श्रीदयालजी महाराज हुए। खेड़ापाके बहुत-से ऐसे साधु हैं, जो श्रीदयालजी महाराजको जितना याद करते हैं, उतना श्रीरामदासजी महाराजको याद नहीं करते। खेड़ापाके ही नहीं, और जगहके भी साधु श्रीदयालजी महाराजके 'करुणासागर' का गान करते हैं। आप जरा विचार करें, कितनी

विलक्षण बात है। अगर आप अपने अवगुण देखकर उन्हें दूर करते जायँ तो आप अपने गुरुसे भी तेज हो जायँगे, इसमें किंचिन्मात्र भी संदेह नहीं है। गुरुजनोंके मनमें यही बात रहती है कि हमारा शिष्य हमसे भी श्रेष्ठ बन जाय। जो अच्छे-अच्छे उपदेष्टा हुए हैं, अच्छे-अच्छे व्याख्यानदाता हुए हैं, सच्चे हृदयसे गुरु हुए हैं, उनकी भावना यही रही है कि हमारा शिष्य सबसे श्रेष्ठ हो जाय। हमने ऐसे गुरुजन देखे हैं। हमारे विद्यागुरुजी महाराज थे, उनका हम सबके प्रति यह भाव रहता था कि ये श्रेष्ठ हो जायँ। हम लड़के लोग रात्रिमें दीपकके पास बैठकर पढ़ते थे। कभी नींद आने लगती तो वे खिड़कीमेंसे देख लेते और बोलते—'अरे! यों क्या करते हो?' हमें हरदम भय रहता कि महाराज देखते होंगे। वे चुपकेसे आकर देखते और फिर बादमें पूछा करते कि 'वहाँ कैसे खड़ा था? ऐसे कैसे करता था वहाँ?' उनमें विद्यार्थियोंको पढ़ानेकी, तैयार करनेकी बड़ी लगन थी। मुझसे उन्होंने कई बार कहा कि 'मैं यह चाहता हूँ कि कहीं कोई पंचायती पड़े, कोई शास्त्रीय उलझन पड़े तो उसमें हमारा शुकदेव निर्णायक बने। सभी इससे पूछें और यह निर्णय दे—ऐसा मैं देखना चाहता हूँ। यह भी कहा कि मैं जैसा चाहता हूँ, वैसा बना नहीं सका।' अतः जो अच्छे गुरुजन होते हैं, वे ऐसे ही होते हैं। माँ-बाप भी ऐसे ही होते हैं। वे चाहते हैं कि हमारा शिष्य, हमारा पुत्र हमसे भी तेज हो, पर वे बना नहीं सकते। शिष्य या पुत्र अगर चाहे तो उनसे तेज बन सकता है, इसमें बिल्कुल संदेह नहीं है। इसलिये गीतामें कहा गया है—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥
(६। ५)

अर्थात् 'अपने-आपसे अपना उद्धार करना चाहिये। अपने-आपसे अपना पतन नहीं करना चाहिये। आप ही अपना बन्धु है और आप ही अपना शत्रु है।' अतः आप अपनी जगह ठीक हो जायँ तो आप श्रेष्ठ बन जायँगे—इसमें संदेह नहीं है। लोग मुझे अच्छा कहें—यह आशा मत रखें। कोई मुझे बुरा न कह दे—यह भय बहुत ही पतन करनेवाला है। यह भय करेंगे तो कभी ऊँचा नहीं उठ सकेंगे। जो दूसरोंके सार्टीफिकेट-पर निर्णय करता है, वह ऊँचा कैसे उठेगा? दूसरे सब-के-सब श्रेष्ठ कह दें—यह हाथकी बात नहीं है। जो अवगुण आपमें नहीं है, वह अवगुण लोग आपमें बतायेंगे—**'अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः'** (२। ३६) लोग तो न कहनेलायक बात भी कहेंगे। वे मनमें जानते हैं कि 'यह ऐसा नहीं है' फिर भी आपको चिढ़ानेके लिये, दुःखी करनेके लिये वैसी बात कहेंगे। आजकल जो वोट लेनेके लिये खड़े होते हैं, वे मनमें जानते हैं कि 'हमारे विपक्षमें जो आदमी खड़ा है, वह हमसे अच्छा है' पर ऐसा जानते हुए भी वे उसकी निन्दा ही करेंगे कि 'यह खराब है, हम अच्छे हैं।' इसलिये आप अच्छे बनें, पर लोगोंसे यह आशा मत रखें कि वे आपको अच्छा कहें। वे आपको अच्छा जानते हुए भी अच्छा नहीं कहेंगे, बुरा कहेंगे। आपको अच्छा कहनेकी उनमें ताकत नहीं है। आप प्रतीक्षा करें कि लोग हमें अच्छा कहें—यह कितनी बड़ी भूल है। अच्छा कहलानेकी इच्छा छोड़ दें। अच्छा कहलायें मत; अच्छे बनें।

जब शिष्यने गुरुको पाठ पढ़ाया !

(डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

नानकदेवकी अवस्था तब केवल सात वर्षकी थी। उनके पिता श्रीकालूने बालक नानकको विद्याध्ययनके लिये पाठशालामें भेज दिया। वे नानकको विद्वान् बनाना चाहते थे। पाठशालामें गुरुजीने भगवान्‌का स्मरण कर पूजनके पश्चात् प्रसाद वितरित कर नानकको पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया।

उन दिनों लकड़ीकी चिकनी मिट्टीसे पुती पट्टियोंपर सरकंडेकी कलमसे बच्चे लिखा करते थे। पण्डितजीने वर्णमालाके अक्षर लिखकर कहा—'नानक! लो, इन अक्षरोंको देख-देखकर ठीक-ठीक नकल करो। बार-बार लिखनेसे तुम्हारी स्मृतिमें इनकी बनावट बैठ जायगी। अभ्यास शिक्षाका मूल है। अभ्याससे ही ज्ञान मिलता है। अपना अभ्यास तन्मयतासे प्रारम्भ करो।'

नानकने पटिया ले ली। वह उन अक्षरोंका बड़े ध्यानपूर्वक अध्ययन करने लगा। उधर पण्डितजी आकर कार्यमें लग गये और समझे, बालक अभ्यास कर रहा होगा। एकाएक पण्डितजीने देखा कि नानक कुछ नहीं लिख रहा है।

'नानक! तू लिखता नहीं। तुझे जो काम सौंपा गया, उसे क्यों नहीं करता?' पण्डितजी क्रोधमें आग-बबूला हो उठे। उन्होंने फटकार बतायी। नानक चुप था, जैसे उसने कुछ सुना ही नहीं। 'अरे नानक! सुनता है या नहीं, सात वर्षका हो रहा है, अभीतक तुझमें आज्ञा-पालनका विवेक नहीं। बिना अनुशासन विद्या-प्राप्ति असम्भव है। चल, अपना अभ्यास कर।'

फिर भी नानक चुप! कोई उत्तर नहीं! क्या कर रहा है यह बालक? पण्डितजी क्रोधमें उठे, नानकके पास गये। [illegible] अक्षर नहीं लिखा है। वह स्वच्छ पड़ी है। शिष्यका ध्यान कहीं और है। 'नानक! तू पढ़ता क्यों नहीं?' शेरकी तरह गुर्राकर वे पूछने लगे।

अब बालकने अपने अश्रुपूरित नेत्र ऊपर उठाये, वह थोड़ी देर चुप रहा। 'बोल रे, क्यों नहीं पढ़ता? मैं तेरे पिताजीको क्या उत्तर दूँगा?'—गुरुजीने पूछा।

'पण्डितजी! आप स्वयं क्या पढ़े हैं, जो मुझे पढ़ायेंगे?'—अनायास बालकके मुँहसे निकल पड़ा। ये शब्द पण्डितजीके तो बंदूकसे निकली गोलीकी तरह लगे। उनके क्रोधकी सीमा न रही। सात वर्षकी आयुवाला शिष्य कैसा अटपटा प्रश्न पूछता है। 'मैं जमा-खर्च, सवैया, गुणा-भाग, भाषा, व्याकरण आदि सब कुछ पढ़ा हूँ। इसके अतिरिक्त सभी प्रकारके वेद-पाठका भी ज्ञान रखता हूँ।'—पण्डितजी गर्वसे बोले।

बच्चा कुछ देर चिन्तनमें निमग्न रहा, मानो ब्रह्मके निगूढ़ रहस्यको स्पष्ट करनेके लिये उपयुक्त शब्द ढूँढ़ रहा हो। फिर बोला—'पण्डितजी! क्षमा कीजिये, यह पढ़ाई तो गलेमें फाँसीके फंदेके समान है।'

'क्या कहा?'—शब्द थे या धनुषसे निकले हुए तीखे तीर! पण्डितजी बच्चेकी बुद्धिपर विस्मित! 'फिर वह कौन-सी पढ़ाई है, जो फाँसीसे बचाती है? मैं तो नहीं जानता, तू ही बतला!'—पण्डितजी गरजकर बोले—'चला है मुझे ही शिक्षा देने।'

बालक विचार-सागरमें निमग्न!

'बोलता क्यों नहीं रे! व्यर्थ बकवास किया करता है। अभी ठीकसे बोलना भी नहीं आता और चला है आगे अध्यापकको शिक्षा करने!'—गुरुजीने कहा।

नानक चुप ! लगता था, उसके मस्तिष्कमें बादल घुमड़ रहे हैं । फिर तोतली ठिठकती बोलीमें बालक राग महतामें गाने लगा—

जाल मोह घस मसकर, मति कागद कर सारु ।
भाउ कलम करि चित्त लिखारी, गुरु पूछि लिखु विचारु ॥
लिख नाम सालाह लिखु, लिखु अन्त न परावार ।
बाबा एहु लेखा लिख जाणु,
जिथै लेखा मंगीये तिथै होय सच्चा नीसाणु ॥

अर्थात् जो व्यक्ति संसारके मायारूपी जालमें फँस जाते हैं, वे कुकर्मी, पापी एवं पथभ्रष्ट हो जाते हैं । इसके विपरीत ईश्वर-भक्तिका मार्ग अपनानेवाले व्यक्ति माया-रूपी जालको भस्म कर राख बना देते हैं । जो व्यक्ति प्रेमरूपी कलमसे सत्यरूपी कागजपर गुरु-संतोंसे पूछकर ईश्वरका यशोगान लिखते हैं, उनके पाप नष्ट हो जाते हैं तथा वे तन-मनसे सुखी रहते हैं । यद्यपि ईश्वरके गुणोंका पारावार नहीं, तथापि मनुष्यका कर्तव्य है कि वह ईश्वरकी स्तुति लिखता और पढ़ता रहे ।'

बालक नानकके इन गूढ़ विचारोंसे भरे शब्दोंको सुनकर पण्डितजीसे कुछ बोलते न बना । वे चकित थे । कैसी विलक्षण बुद्धि है ।

दूसरे दिन पण्डितजीने पुनः बालक नानकसे कहा—'बालक नानक ! व्यर्थकी नादानी मत कर । देख, कितने विद्यार्थी पढ़-लिख रहे हैं । तू समय क्यों नष्ट कर रहा है ? लिखना-पढ़ना सीख ले । रोटी-रोजीके लिये यह पढ़ाई आवश्यक है । कल भी तूने समय नष्ट किया था । सुन, अब भी सँभलनेका समय है । चल, कुछ पढ़-लिख ।'

बालक फिर चिन्ता-निमग्न हो उठा ! वही गूढ़ दार्शनिक मुद्रा ! 'बोल रे ! पढ़ेगा या यों ही जीवन नष्ट करता रहेगा ? बिना पढ़े कुछ भी प्राप्त होनेवाला नहीं है । अध्ययनसे ही व्यक्तित्वका विकास होता है ।' गुरुजी बोल उठे ।

मानो गहन अनुभवके समुद्रसे निकालकर बालकने ज्ञानरत्न बिखेर दिये । शान्त-संतुलित वाणीमें उसने राग आसामें ये शब्द कहे—

ससै सोइ सृष्टि जिनि साजी समना साहिब एकु भइया ।
सेवत रहे चितु जिनका लागा आइया तिनका सफल भइया ।
मन काहे भूले मूढ़ मना, जब लेखा देवहि बीरा तउ पढ़िया ।

अर्थात् 'जिसने इस सृष्टिका निर्माण किया है, वह सारे विश्वका स्वामी एक ईश्वर ही है । जिसने केवल अकाल पुरुष (मृत्युरहित) की उपासना की है, उसीका जन्म सफल है तथा वही मोक्ष-प्राप्तिका अधिकारी है । शेष सब मूर्खतामें अपना बहुमूल्य जीवन नष्ट करते हुए नरकके अधिकारी होंगे ।'

यह सुनकर पण्डितजीके ज्ञानके नेत्र खुल गये । जीवनके लिये यह अनुपम शिक्षा थी, जो स्वयं जन्मसे ही दिव्य प्रकाशसे देदीप्यमान है, उसे कौन प्रकाश दे ! वे निरुत्तर हो गये ।

पण्डितजीने जाकर पिता श्रीकालूसे कहा—'नानक बचपनसे ही विद्वानोंका सिरमौर है । वह वेदोंके पूर्ण ज्ञानसे परिचित है । वह समाजमें ऐसा दैवी प्रकाश फैलायेगा, जिसके उजालेमें अधर्म तथा पाप नष्ट हो जायँगे । वह ईश्वरका ऐसा मार्ग दिखायेगा, जिसे प्रत्येक व्यक्ति ग्रहण करेगा और जिससे भारतीय संस्कृतिकी रक्षा होगी । मैं इस बालकको शिक्षा देनेमें असमर्थ हूँ । जीवनमें मैंने ही आज इससे नया प्रकाश प्राप्त किया है ।'

इन्हीं नानकको सिक्ख-धर्ममें प्रथम गुरुकी मान्यता प्राप्त हुई और इनकी वाणी गुरुग्रन्थमें समाहित की गयी ।

मनकी सँभाल

जहाँ हमारा मन है, वहीं हम हैं। भले ही हम मन्दिरमें—उपासनागृहमें ही क्यों न बैठे हों, पर यदि हमारा मन कहीं और है—शेयर बाजारमें चक्कर काट रहा है, शेयरके भावोंकी विवेचना कर रहा है, खरीद-बेच रहा है, घर, दूकान, आफिस, होटल, क्लब, थियेटर आदिका चिन्तन कर रहा है तो हम उस समय सचमुच मन्दिरमें नहीं, अपितु हमारे चिन्तनके विषय-भूत उन-उन स्थानोंमें ही विचर रहे हैं। यह सर्वथा सत्य सिद्धान्त है।

यों तो शरीरसे भी शुभ स्थानपर, शुभ वातावरणमें रहना परम मङ्गलकारी है ही, पर जबतक हमारा मन उसे ग्रहण नहीं करता, तबतक हमारी स्थिति नहीं बदलती, नहीं बदल सकती। हमारी उपासना तभी सच्ची उपासना बनेगी, जब उसमें शारीरिक क्रियाविशेष-का नहीं, मनका संयोग होने लगेगा। प्रभुके सामने घुटने टेककर हाथ जोड़कर या किसी आसन-विशेषसे बैठकर प्रार्थना करनेकी मुद्रा बड़ी सुन्दर है, पर हमारी प्रार्थना सच्ची तो तब होगी, जब हमारा मन सब ओरसे सिमटकर प्रभुमें ही केन्द्रित होने लगेगा। इसीलिये बाहरी आचार-व्यवहारकी यथाशक्ति पूर्ण रक्षा करते हुए भी प्रधानतासे हमारी शक्ति लगनी चाहिये मनको सँभालनेमें। हमारा मन किस समय किस रूपमें हमारे सामने आ रहा है, क्या कर रहा है, अपने लक्ष्यको भूलकर कहीं अन्यत्र भटकने तो नहीं लगा है, इस सँभालकी अत्यधिक आवश्यकता है।

निरन्तर प्रभुका ही चिन्तन होने लग जानेपर तो सँभालका प्रश्न स्वतः समाप्त हो जाता है; किंतु जबतक क्षणभरके लिये भी मन विषयाकार होता है तबतक सावधान रहनेकी आवश्यकता है। हममें भोगोंकी कामना होती है, हम संकल्प करते हैं; अमुक वस्तु है या नहीं, इस प्रकार किसी विषयमें हमें संदेह होता है; जो वस्तु प्रत्यक्ष नहीं है, उसके विषयमें भी हम पढ़-सुनकर विश्वास कर लेते हैं कि यह वस्तु निश्चितरूपसे ऐसे है ही; अथवा किसी अप्रत्यक्ष वस्तुके प्रति हमारे मनमें सर्वथा अविश्वास रहता है कि वह है ही नहीं; हममें धृतिकी वृत्ति रहती है, इससे विपरीत व्याकुलताका भाव भी रहता है; विविध परिस्थितियोंमें लज्जाकी वृत्ति जाग उठती है; निश्चय कर लेनेकी वृत्ति—बुद्धि भी हममें है और हमें भय भी होता है। ये सब क्या हैं? इन सब रूपोंमें हमारा मन ही तो व्यक्त हो रहा है—

'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव॥

(बृहदारण्यक० १।५।३)

अब इन्हीं वृत्तियोंमें, इन्हीं भावनाओंमें यदि हम यथायोग्य किन्हींकी दिशा बदल दें, बदले ही रखें, उनपर प्रभुका रंग चढ़ा दें और किन्हींको शान्त कर दें तो बस, मनकी सँभाल हो गयी। अतएव आइये, इसी उद्देश्यसे यहाँ हम काम, संकल्प आदि मनके स्वरूपोंपर क्रमशः संक्षेपमें कुछ विचार करें।

हमें भोगोंकी कामना क्यों होती है? इसीलिये तो कि हमें उनसे सुख प्राप्त होनेकी सम्भावना दीखती है। फिर क्यों नहीं हम उस एक वस्तुकी ही कामना करें जो समस्त सुखोंका केन्द्र है, जो समस्त विश्वको सुखका दान करता है, जिस सुखपर ही विश्वके समस्त प्राणियोंका जीवन अवलम्बित है। वह वस्तु तो एकमात्र प्रभुका स्वरूप है। वे प्रभु ही विश्वको आनन्दका दान करते हैं,—**'एष ह्येवानन्दयति'** (तैत्तिरीय० २।७)। उनके आनन्दका ही किंचित् अंश लेकर विश्वके अनन्त प्राणी जीवन धारण करते हैं—

एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।

(बृहदारण्यक० ४।३।३२)

हम यदि प्रभुको ही चाहने लगें, अपनी कामनाकी दिशा बदल दें, जगत्‌की ओरसे मोड़कर उसे प्रभुकी ओर कर दें, जितनी बार जिस किसी वस्तुके लिये भी कामना उत्पन्न हो, उतनी बार हम उसे प्रभुकी कामना-से ढक दें, 'हमें तो एकमात्र प्रभु मिल जायँ, उनके अतिरिक्त हमें और कुछ नहीं चाहिये', इस कामनासे ही जगत्‌की अन्य समस्त कामनाओंको तत्परतापूर्वक सम्पुटित करते जायँ तो फिर मनको धो देनेका कार्य आरम्भ हो गया, उनके 'काम'रूपकी सफाई होने लगी —विषयाकारसे वह प्रभुके आकारमें परिणत होने लगा।

संकल्पके प्रवाहको भी हम प्रभुकी ओर कर दें अथवा इसके स्रोतको ही बंद कर दें, इसके लिये भी उपाय बड़ा ही सरल है; किंतु तत्परता एवं अभ्यास यहाँ भी अपेक्षित है ही। जितनी स्फुरणाएँ उठें, उन्हें हम प्रभुको समर्पित करते चले जायँ। 'नाथ! यह तुम्हें समर्पित है' इस भावनाका पुट प्रत्येक स्फुरणा-में लगा दें। इसका निश्चित परिणाम यह होगा कि नवीन स्फुरणाएँ प्रभुसे सम्बद्ध होकर ही उठेंगी। अथवा हम यह करें कि स्फुरणाओंके द्रष्टा बन जायँ। क्या स्फुरणा हो रही है, हमारा मन क्या कर रहा है, इसे हम स्फुरणाओंसे, मनसे अलग होकर देखने लगें, फिर निश्चय ही स्फुरणाओंका वेग शान्त होने लगेगा, क्रमशः सर्वथा शान्त हो जायगा तथा इस प्रकार प्रभु एवं हमारे बीचका एक बहुत गहरा आवरण नष्ट हो जायगा।

संदेहके रूपमें भी हमारा मन ही है। यदि यह संदेह जागतिक विषयोंको लेकर है तो इसमें विशेष हानि नहीं है, पर यदि यह प्रभुकी सत्ताके सम्बन्धमें है तो इसे तुरंत ही नष्ट कर देना चाहिये। इसे नष्ट करनेका सर्वोत्तम साधन यह है—'जिनका हृदय प्रभुके आलोकसे आलोकित हो चुका है, ऐसे किसी संत महापुरुषका हम सरलभावसे आश्रय ग्रहण कर लें, उनके सङ्गमें रहने लगें।' अनिवार्य आवश्यकताकी वृत्तिसे ढूँढ़नेपर कोई-न-कोई महापुरुष हमें निश्चय ही मिलेंगे और उनके सङ्गसे हमारे संदेहकी निवृत्ति होकर ही रहेगी। इतना ही नहीं, हमारे सामने मनका एक निर्मल एवं सत्त्वपूरित रूप भी आ जायगा, प्रभुमें अडिग श्रद्धा उत्पन्न होगी और यह दृढ़ विश्वास हमारी समस्त विघ्न-बाधाओंको हर लेगा। फिर प्रभुसे मिलन होनेमें देर न लगेगी।

अश्रद्धा (अविश्वास) का प्रश्न कुछ टेढ़ा है। यदि प्रभुकी सत्तामें हमारा विश्वास नहीं तो हमारे लिये सर्वत्र अँधेरा-ही-अँधेरा है। फिर तो जगत्‌के चकाचौंधमें पड़कर हम सर्वथा अंधे हो जाते हैं। हमारे लिये फिर प्रभु नहीं, परलोक नहीं, फिर तो केवल यह प्रत्यक्षका स्थूल जगत् एवं जगत्‌के भोग ही रह जाते हैं। हमारा वर्तमान जीवन ही हमारे लिये 'अथ' एवं 'इति' बन जाता है। वर्तमान जगत्‌में इसीका बोलबाला है। प्रायः सर्वत्र सभी क्षेत्रोंमें हमें अश्रद्धाका नग्न नृत्य देखनेको मिलता है। इसकी ओषधि भी मुख्यतया एक ही है और वह है प्रभुके परम मङ्गलमय अचिन्त्य विधानसे आये हुए भीषण दुःखोंके थपेड़े। इनकी चोट खानेपर ही हमारी बुद्धि ठिकाने आती है। तभी हम निश्चय कर पाते हैं कि प्रभु हैं एवं जीवनका उद्देश्य जगत्‌के नश्वर भोग नहीं, एकमात्र प्रभुकी प्राप्ति है। तब कहीं जाकर प्रभुकी ओर हमारी गति होती है।

धृतिके रूपमें व्यक्त होनेवाले मनकी भी सँभाल करनेकी आवश्यकता है। हमारी धृति सात्त्विकी है, राजसी है या तामसी—इसे हम अच्छी तरह परख लें। यदि हमारी धृति एकमात्र प्रभुकी प्राप्तिको लक्ष्य बनाकर ही हममें जागरूक है तो वह सात्त्विकी है, जागतिक वैभव एवं उनसे प्राप्त होनेवाले सुखको लेकर है तो

वह राजसी है, पर कहीं निद्रा, तन्द्रा, शोक, विषाद, गर्व आदि तामसिक भावोंको दृढ़तापूर्वक पकड़े रहनेमें ही हेतु बन रही है तो वह निश्चय ही तामसी है। यह परख कर लेनेके बाद हमें राजसी-तामसी धृतिको तो शीघ्र-से-शीघ्र छोड़ देना है। ग्रहण करने योग्य, प्रश्रय देने योग्य धृति तो केवल सात्त्विकी ही है, जो हमें प्रभुके द्वारतक ले जाती है।

जागतिक वस्तुओंको पानेके लिये तो हममें कई अवसरोंपर बड़ी व्याकुलता होती है, पर प्रभुके लिये हमारा हृदय कभी नहीं रोता। यदि व्याकुलताको ही हम वरण करते हैं, हमें वरण करना ही है तो क्यों नहीं हम प्रभुके लिये ही रोवें! इतना रोवें कि हृदयकी सारी मलिनता आँसू बनकर नेत्रोंके पथसे बाहर निकल जाय, हृदय निर्मल—स्वच्छ बन जाय, वहाँ प्रभुके निवास करने योग्य परिष्कृत और दैवी गुणोंसे सुसज्जित स्थान बन जाय और प्रभु उसमें आ विराजें।

जब हमारी भूल किसीको दीख जाती है, हमारा पाप प्रकट हो जाता है तो हमें लज्जा होती है। इसलिये नहीं कि यह भूल हमसे क्यों हुई, ऐसा पाप हमसे क्यों बना, अपितु इसलिये कि लोग जान गये, उनपर हमारी नीचता प्रकट हो गयी। यह लज्जा तो किसी कामकी नहीं। लज्जा होनी चाहिये पाप करनेमें, किये हुए पापोंको छिपानेमें, कोई भी पाप बन जाय तो उसे प्रकट कर देनेमें हमने क्षणभरका भी विलम्ब क्यों कर दिया, इस बातमें। ऐसी लज्जा प्रभुको शीघ्र-से-शीघ्र आकर्षित करनेवाली बन जाती है।

बुद्धि भी सात्त्विकी, राजसी एवं तामसी हुआ करती है। प्रभुसे मिलन होनेका यह प्रवृत्तिमय मार्ग है, यह निवृत्ति-मार्ग है, यह हमारा कर्तव्य है, यह अकर्तव्य है, हमारे लिये भयका कारण क्या है, इमें अभयपदकी प्राप्ति किन-किन उपायोंसे सम्भव है, हम संसारमें बँधे ही क्यों, इससे छूट कैसे जायँ—इन सब बातोंको जो बुद्धि ठीक-ठीक समझती है, वह सात्त्विकी है। धर्म-अधर्म, कर्तव्य-अकर्तव्यको यथार्थ-रूपसे न समझनेवाली बुद्धि राजसी है तथा जो बुद्धि उलटी माननेवाली हो, अधर्मको धर्म, अकर्तव्यको कर्तव्य, दुःखको सुख और अनित्यको नित्य समझती हो, सब कुछ विपरीत भावसे ग्रहण करती हो, वह तामसी है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि राजसी-तामसी बुद्धि तो हमें नीचे नरककुण्डमें ढकेलती है एवं सात्त्विकी आनन्दमय प्रभुके चरणप्रान्तमें ले जाकर कृतार्थ कर देती है। अतः सात्त्विकी बुद्धि हमें क्षणभरके लिये छोड़ न दे, यह प्रयास सतत होना चाहिये; क्योंकि हमें तो प्रभुके समीप जाना है, हम जा रहे हैं तथा जिस रथपर सवार हुए हम जा रहे हैं, उसपर बुद्धि सारथि जो ठहरी*। यदि सारथि ही रथसे कूद जाय या उन्मत्त हो जाय तो रथ खड्डेमें गिरेगा ही।

भय भी हमें अनेक निमित्तसे होता है। पर यह है सर्वथा मिथ्या। जब सर्वत्र एकमात्र आत्मस्वरूप प्रभु ही सदा विराजित हैं, तब भय किस बातका! अपनेसे अपने-आपको भय होता है क्या! बिल्कुल नहीं होता। अतः इस परम सत्यको स्वीकारकर हम भयकी वृत्तिको सदाके लिये कुचल दें। भय ही करना हो तो यह करें कि कहीं इस परम सत्यकी हमें विस्मृति न हो जाय, क्षणभरके लिये सर्वत्र पूर्ण, एकमात्र प्रभुको छोड़कर हम किसी भी स्थानपर जगत्को न देखने लग जायँ। यह एक भय हमें प्रभुसे नित्य संयोग करानेवाला बन जायगा, हमें सदाके लिये निर्भय कर देगा।

* आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥ (कठ० १।३।३)

सबका सारांश यह है कि काम-संकल्प आदि भावोंके रूपमें हमारा मन ही व्यक्त होता है। उन-उन अवसरोंपर सावधान रहकर हम मनको सँभालते रहें; क्योंकि मनकी स्थितिपर ही हमारी स्थिति निर्भर करती है। हम हैं प्रभुके सनातन अंश, हम भी हैं सच्चिदानन्दस्वरूप ही, पर इस मनके कारण ही इस स्थूल जगत्में भटक रहे हैं, प्रभुसे अलग होनेका हमें भ्रम हो रहा है। बस, इस मनको जगदाकारसे भगवदाकार बनानेभरकी देर है। फिर तो हम पुकार उठेंगे—

'स एवाधस्तात्स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदꣳसर्वमिति ×××× अहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदꣳसर्वमिति××× । आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदꣳ सर्वमिति'।

(छान्दोग्य० ७ । २५ । १-२)

'वही (प्रभु) नीचे है, वही ऊपर है, वही पीछे है, वही आगे है, वही दायीं ओर है, वही बायीं ओर है और वही यह सब है। मैं ही नीचे हूँ, मैं ही ऊपर हूँ, मैं ही पीछे हूँ, मैं ही आगे हूँ, मैं ही दायीं ओर हूँ, मैं ही बायीं ओर हूँ और मैं ही यह सब हूँ। आत्मा ही नीचे है, आत्मा ही ऊपर है, आत्मा ही पीछे है, आत्मा ही आगे है, आत्मा ही दायीं ओर है, आत्मा ही बायीं ओर है और आत्मा ही यह सब है।'

जीवन-यात्रा

(हितैषी अलावलपुरीजी)

जीवन क्या है ? एक पहेली, इसे समझनेको मनुष्य घरसे निकला। प्रातः सोकर उठना, स्नान करके पेट भर लेना, दिनभर परिश्रम करना, सायंकाल घर लौट आना, खा-पीकर रातको सो जाना और नींद या प्रमादमें रात व्यतीत कर देना आदि उसका प्रतिदिनका नियम बन गया।

× × × ×

उसने बहुत-सी यात्रा कर ली, परंतु 'मंजिल' अभी बहुत दूर थी और वह थक गया था। एक दिन एकान्तमें बैठकर वह सोचने लगा—'क्या जीवनका यही उद्देश्य है ? क्या मैं इसीलिये उत्पन्न हुआ हूँ कि दिन पैसा कमानेमें और रात विषयभोगमें व्यतीत कर दूँ ? यह कुछ तो—यह सब कुछ तो पशु भी करते हैं, फिर मनुष्यको श्रेष्ठतम क्यों कहा गया है ?' वह सोचते-सोचते इस परिणामपर पहुँचा कि अवश्य उसकी यात्रा बिना मंजिलके नहीं—फिर वह मंजिल क्या है ? कहाँ है ? उसतक कैसे पहुँचा जाय ? वह व्याकुल हो गया। अन्तरात्मासे आवाज आयी परम सुख, आनन्द, मुक्ति। हाँ, हाँ, मुक्तिके लिये ही तो यह यात्रा प्रारम्भ की थी—'अमरपद'तक पहुँचनेका नाम ही तो 'मंजिले मकसूद' है। मनुष्य यही तो जानना चाहता है कि उसकी यात्राका अन्त क्या है और भिन्न-भिन्न रूपों और जीवनोंमें उसकी यह यात्रा जारी न रहकर कहीं समाप्त हो जाय।

× × × ×

इस मंजिलतक पहुँचनेके लिये मनुष्य जो मार्ग ग्रहण करता है वह 'प्रेय-मार्ग' है, परंतु वास्तविक पथ है 'श्रेय-मार्ग', जो बहुत कठिन है। काम, क्रोध, मोह, लोभ और अहंकारके काँटे उसमें बिछे हैं, इस मार्गको छोड़कर वह 'प्रेय-मार्ग' पर चल पड़ा। थोड़ी दूर जाकर ही उसे ज्ञात हो गया कि वह मार्ग भूल गया है। वह पछताने लगा—इससे अब क्या लाभ ? जीवन समाप्त हो चुका था, अभी यात्रा बहुत लम्बी थी—और मंजिल बहुत दूर·········।

गीतोपदेशका अधिकार एवं रहस्य

(डॉ० श्रीविन्ध्येश्वरीप्रसादजी मिश्र, 'विनय')

गीतोपदेशकी प्राप्ति और श्रवणका अधिकार किसे है—यह बात स्वयं गीतासे ही स्पष्ट हो जाती है। गीताकी प्रादुर्भूति विषादयोगसे होती है। विषाद तो सभीके जीवनमें आता है, किंतु सभी उसे भगवान्‌के समक्ष अनावृत नहीं करते, इसलिये वह योग नहीं बन पाता। अर्जुन और दुर्योधन (ऐतिहासिक सत्य होनेपर भी) आध्यात्मिक दृष्टिसे परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियोंके प्रतीक हैं। अर्जुन शब्दका अर्थ है—सरल-सन्मार्गपर चलनेवाला साधक और दुर्योधनका अर्थ है—कूटनीतिका आश्रय लेकर जिह्ममार्गपर चलनेवाला कलियुगी व्यक्ति। गीताके प्रथम अध्यायमें अर्जुनकी उपस्थितिके पूर्व दुर्योधनके चरित्रका यही पक्ष तीसरे, आठवें और दसवें श्लोकोंमें संकेतित किया गया है। कलिस्वरूप दुर्योधनकी वाणीके ये प्रमुख चार दोष यहाँ स्पष्ट दिखायी पड़ते हैं—१—असत्य, २—मर्मवेधकता, ३—चाटुपरता और ४—संदिग्धता। पाण्डवोंकी सेना दुर्योधनकी सेनासे बहुत अल्प थी, फिर भी दुर्योधन उसे महती कहता है, यह वाणीका प्रथम दोष है। इसके बाद वह 'आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्रद्वारा व्यूहाकार खड़ी की गयी' कहकर द्रोणाचार्यके मर्मको चोट पहुँचाता है। मानो वह उपालम्भ दे रहा हो कि 'जो आपके पुराने शत्रु द्रुपदका पुत्र था उसे आपने (अपने वधके लिये उत्पन्न हुआ जानकर भी) जो अस्त्रविद्या सिखायी यह आपकी बुद्धिमानी नहीं थी।' **'तव शिष्येण धीमता'**—पदसे द्रोणाचार्यकी इसी भूलपर चोट की गयी है और जान-बूझकर धृष्टद्युम्न न कहकर 'द्रुपदपुत्र'—शब्दद्वारा आचार्यकी वैर-वह्निको जाग्रत् करनेका कूट-प्रयत्न किया गया है जो स्पष्ट है, यह द्वितीय दोष हुआ। तदनन्तर अपने पक्षके वीरोंकी गणना करते समय सर्वप्रथम द्रोणाचार्यका नाम ग्रहण करना प्रकरणकी दृष्टिसे उचित होते हुए भी वाणीके तृतीय दोष चाटुपरताको व्यञ्जित कर देता है।

दसवें श्लोकमें 'पर्याप्त' और 'अपर्याप्त' शब्दोंका अर्थ यद्यपि प्रमुख टीकाकारोंने 'हमारी सेना जीतनेमें कठिन तथा पाण्डवोंकी सेना जीतनेमें सुगम' किया है, किन्हीं-किन्हींके मतानुसार इसका बिल्कुल विपरीत ही अर्थ है अर्थात् 'अपर्याप्त' और 'पर्याप्त' शब्दोंका अर्थ क्रमशः 'अल्पशक्तिशाली' और 'अधिक शक्तिशाली' है*। दुर्योधनद्वारा जान-बूझकर ऐसे द्व्यर्थक शब्दोंका प्रयोग वाणीका संदिग्धता-रूप चतुर्थ दोष है। इस प्रकार इस प्रसङ्गसे दुर्योधनका चरित्र स्पष्ट हो जाता है। अर्जुनकी वाणी सरल, असंदिग्ध और उनके आन्तरिक भावोंका सुस्पष्ट प्रकाशन करती है। यही कारण है कि प्रथम अध्यायमें आगे चलकर वे अपनी शारीरिक और मानसिक अवस्थाका स्पष्ट चित्रण करते जाते हैं—यही दोनों व्यक्तियोंका भेद है। विषाद तो दुर्योधनके जीवनमें भी आता है; किंतु वक्रमार्गीय और बहिर्मुख होनेके कारण वह 'योग' नहीं बन पाता। यही कारण है कि गीतोपदेशके समय युद्धस्थलमें उपस्थित रहनेपर भी वह गीताका श्रवण नहीं कर पाता। गीता तो

---

*देखिये इस संदर्भमें १९ वें श्लोकके पश्चात् आचार्य रामानुजका भाष्य तथा श्रीधरस्वामीकी यह व्याख्या—

'तत् तथाभूतैर्वीरैर्युक्तमपि भीष्मेणाभिरक्षितमप्यस्माकं बलं सैन्यमपर्याप्तं तैः सह योद्धुमसमर्थं भाति, एतेषां… पर्याप्तं समर्थं भाति भीष्मस्योभयपक्षपातित्वात्।'

अभिनवगुप्ताचार्यका भी यही मत है—

'पाण्डवीयं बलमस्माकमपर्याप्तं …

अर्जुनको ही प्राप्त होती है, जिनका विषाद भी प्रभु-समर्पित होकर 'योग' बन जाता है।

गीतोपदेशका रहस्य--यद्यपि गीता अर्जुनको प्राप्त होती है, किंतु इसके लिये उन्हें अपने व्यक्तित्वका क्रमशः परिमार्जन करना पड़ता है। ध्यानसे देखनेपर समग्र गीताके उपदेश-वाक्योंको तीन शैलियोंमें विभाजित किया जा सकता है---(१) शास्त्रोपस्थापिका या निरपेक्ष शैली। (२) शास्त्रव्यवस्थापिका या सापेक्ष शैली। (३) शास्त्र-निर्मापिका या विशेष शैली।

जहाँपर भगवान् श्रीकृष्ण बिना किसी विशेष अभिनिवेश-के केवल शास्त्रवचनोंको उपस्थित कर देते हैं, वही प्रथम शैली है, जहाँपर **'युद्ध्यस्व', 'उत्तिष्ठ'** आदि क्रियापदों-द्वारा अर्जुनको सम्प्रेरित करते हुए शास्त्रवचनोंकी प्रकरणानुसार (अर्थात् अर्जुनके लिये) व्यवस्था देते हैं, वहाँ द्वितीय शैली है, किंतु जहाँ अतिशय कृपा-परवशताद्वारा अपने स्वरूप, शक्ति आदिकी ओर उन्मुख करके अर्जुनका सम्पूर्ण भार स्वीकार करते हैं, वहाँ अनुग्रहरूप नवीन शास्त्रविधिका निर्माण होता है, यह गीतोपदेशकी तृतीय शैली है। जो ज्ञानी है, उसके लिये शास्त्रके प्रमाणको ही उपस्थित कर देना पर्याप्त है, कर्मनिष्ठको उचित-अनुचित कर्तव्यकी व्यवस्था देना आवश्यक है, किंतु भावुक भक्तका तो सर्वविध समर्पण स्वीकार करके उसे निश्चिन्त कर देना ही उचित होता है। हमारे विचारसे इन्हीं तीन शैलियोंको क्रमशः ज्ञानयोग, कर्मयोग तथा भक्तियोगकी संज्ञा प्राप्त हुई है।

प्रथम और द्वितीय अध्यायमें अर्जुनके तीन व्यक्तित्व क्रमशः दिखलायी पड़ते हैं---

(१) पहला व्यक्तित्व अर्जुनका स्वामिभाव है। अर्जुन रथी हैं और श्रीकृष्ण सारथि हैं, परम्परानुसार रथी सारथिको आज्ञा देता है। इसी प्रकार अर्जुन भी श्रीकृष्णसे सर्वप्रथम इसी शब्दावलीमें बात करते हैं---

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत।
(१ । २१)

अर्थात् 'हे श्रीकृष्ण! मेरा रथ दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा कीजिये।' यहाँ आगे-पीछेका पूरा प्रसङ्ग अर्जुनकी अहंक्रियाका चित्रण करता है*। इस बातको वे गाण्डीव उठाकर (**धनुरुद्यम्य**) बड़े संरम्भसे कहते हैं। आगे भी उनकी शब्दावली यही है कि 'देखूँ कौन मुझसे युद्ध करनेको आया है' आदि। इसके उत्तरमें श्रीकृष्ण रथको कथित स्थानमें खड़ा करके आज्ञाकारी सारथिकी भाँति यही कहते हैं कि 'हे अर्जुन! तुम इन एकत्र हुए कुरुवंशियोंकी ओर देखो'---

उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति।
(१ । २५)

(२) आगे जब अर्जुन सम्यक् निरीक्षण करते हैं तब उनके अन्तःकरणकी संक्रिया (चित्त) और प्रक्रिया (बुद्धि) दोनों जाग्रत् होती हैं और वे परिस्थितिकी समीक्षा करके **'तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः'** श्रीकृष्णके प्रति मित्र या सखाभावसे उपस्थित होते हैं। जैसे एक सुहृद्के सामने अपनी सम्पूर्ण परिस्थितिको संकोचरहित होकर कहा जाता है उसी प्रकार पार्थ भी अपनी सम्पूर्ण शारीरिक और मानसिक दशाका वर्णन करते हुए अपनी बात रखते हैं और मानो श्रीकृष्णको उचित सलाह देनेको प्रेरित करते हैं। इस प्रसङ्गमें अनेक बार भगवान्‌को 'कृष्ण', 'केशव', 'गोविन्द', 'जनार्दन' आदि नामोंसे सम्बोधित करनेमें इसी सख्य-भावकी व्यञ्जना

* अन्तःकरणके मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार-रूप चार भेद हैं, इनकी भावात्मक क्रियाओंको दार्शनिक भाषामें क्रमशः विक्रिया, प्रक्रिया, संक्रिया और अहंक्रिया [illegible] इस प्रकरणमें व्युत्क्रमसे चारों क्रियाओंका प्रदर्शन हुआ है।

है। इस भावके अनुरूप उत्तर भगवान् श्रीकृष्ण द्वितीय अध्यायमें एक मित्रके प्रेरक उद्बोधनके रूपमें इस प्रकार देते हैं—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥
(२। २-३)

(३) अब आगे उनमें अपने निर्णय और भगवान् श्रीकृष्णके इस उद्बोधनपर कार्याकार्यकी विचिकित्सा उत्पन्न होती है अर्थात् अब उनका अन्तःकरण विक्रिया-'मनः'प्रधान अर्थात् भावुक हो जाता है। इस समय वे किंकर्त्तव्यविमूढ होकर अपने कार्पण्य-दोषका अनुभव करते हुए शिष्यभावसे भगवत्प्रपन्न होते हैं—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥
(२। ७)

इसीके बाद गीतोपदेशका आरम्भ होता है। एक गुरु जिस प्रकार विपरीत-मार्गमें भटके हुए शिक्षार्थीको डाँट लगाते हुए उसे उचित सिद्धान्तपर लाता है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको अनुशासित करते हुए कहते हैं—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥
(२। ११)

'अर्जुन! तुम अशोचनीयोंके लिये व्यर्थ शोक करते हो, बोल तो रहे हो पण्डितोंकी-सी शब्दावली, किंतु हो अपण्डित ही; क्योंकि पण्डितजन तो जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिये—दोनोंके ही लिये शोक नहीं करते।'

गीताका उपसंहार भी इन्हीं तीनों भावोंके अनुसार होता दिखलायी पड़ता है। अठारहवें अध्यायके ६३ वें श्लोकमें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'पार्थ! मैंने तुम्हें गुह्यसे गुह्यतर यह ज्ञान सुना दिया, अब तुम पूरी तरह विचार करके जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा करो—**'विमृश्यै-तदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।'** यह निरपेक्ष शैली है। भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ अर्जुनकी इच्छाको प्रधानता देते हुए अर्जुनके प्रथमभाव (स्वामिभाव)के अनुरूप उपसंहार करते हैं, किंतु जब अर्जुन चुप रह जाते हैं तब आगे वे मित्रभावसे पुनः सर्वगुह्यतम तथा परम वचनोंके द्वारा अर्जुनका हितसंसाधन करते हुए सापेक्ष शैलीमें वक्तव्यका परिसमापन करते हैं; क्योंकि वे उनके परम इष्ट-मित्र हैं—**'इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।'** (१८। ६४) आगे श्लोकमें वे **'मन्मना भव मद्भक्तो॰'** आदिके द्वारा शास्त्रकी व्यवस्था देते हुए शपथपूर्वक अपने कथनको पुष्ट करके अर्जुनको अपना प्रिय मानते हैं और उन्हें अपनी प्राप्तिका आश्वासन भी देते हैं—**'मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।'** (१८। ६५) तथापि अभी कुछ बात शेष रह गयी प्रतीत होती है—'तुम मुझे ही प्राप्त होगे, मैं तुमसे इस बातकी प्रतिज्ञा करता हूँ'—यहाँ **'एव'** **'माम् एव'** द्वारा कुछ परोक्षभाव-सा दिखलायी पड़ता है और तभी तो विश्वास दिलानेके लिये **'प्रतिजाने'**—प्रतिज्ञा करता हूँ—यह कहना पड़ रहा है। यदि गीताशास्त्रका उपसंहार यहीं हो जाता तो भक्तके उद्धारमें भगवान् श्रीकृष्णकी कोई विशेष जिम्मेदारी नहीं रहती। चूँकि द्वितीय अध्यायमें अर्जुन अन्ततः शिष्य बनकर प्रपन्न हो चुके हैं, अतएव अब विशेष शैलीके द्वारा गुरुभावकी सार्थकता और शरणागतिकी सिद्धि करनी ही पड़ेगी। इसीलिये ६६वें श्लोकमें सारी कैंकर्यविधिको छोड़कर एकमात्र अपनी शरणमें आनेका आदेश देते हुए शिष्यका सम्पूर्ण भार

स्वीकार कर लेते तथा उसे शोकमुक्त बना देते हैं— **'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।'**

अर्जुनके व्यक्तित्वकी यह यात्रा अहंके उदात्तीकरणकी साधना है । अर्जुनका प्रथम व्यक्तित्व **'यावदेतान्निरीक्षेऽहम्'**, **'योत्स्यमानानवेक्षेऽहम्'** के रूपमें जीवके अहंकारका प्रदर्शन करता है, किंतु गीताके उक्त चरम वाक्यतक आते-आते वह सर्वान्तर्यामी प्रभुका **'अहम्'** बन जाता है—**'अहं त्वा मोक्षयिष्यामि ।'** अर्जुनके पास जो **'अहम्'** था उसे जब भगवान् श्रीकृष्णने स्वीकार कर लिया तब उनके पास केवल **'तव'** अर्थात् 'तुम्हारा'ही रह गया, इसीलिये वे **'करिष्ये वचनं तव'** (१८ । ७३) कहकर युद्धके लिये उद्यत हो जाते हैं । अहंकार वस्तुतः परमात्माका ही हो सकता है; क्योंकि एकमात्र वही आत्मरूप अर्थात् **'अहम्'**-पदवाच्य है । परिच्छिन्न जीव जब उसे अपना बना लेता है तब उसे शोकसंविग्न होना पड़ता है; किंतु जब वह उसे विश्वात्माको प्रत्यर्पित कर देता है तब सम्पूर्ण शोक क्षणभरमें नष्ट हो जाता है, यही गीताका परम और चरम रहस्य है ।

तपोमय सनातनतीर्थ नैमिषारण्य

(पं० श्रीरामनरेशजी दीक्षित शास्त्री)

नैमिषेऽनिमिषक्षेत्रे ऋषयः शौनकादयः ।
सत्रं स्वर्गाय लोकाय सहस्रसममासत ॥

(श्रीमद्भा० १ । १ । ४)

शौनकादि ऋषिगणोंने हरिलोककी प्राप्तिके लिये विष्णुतीर्थ नैमिषारण्यमें सहस्रवर्षव्यापी यज्ञका अनुष्ठान किया था । विश्वको आध्यात्मिक संदेश देनेवाली संस्कृतिका जन्म पवित्र अरण्योंमें हुआ । अरण्योंसे महर्षियोंको कितना प्रेम था, यह ऐतरेयादि आरण्यक ग्रन्थोंके नामसे ही स्पष्ट है ।

अरण्योंमें परमपवित्र प्राचीन तीर्थ श्रीनैमिषारण्यक्षेत्रका प्रमुख स्थान है । यह अत्यन्त प्राचीन तपोवन है । ऐसा कोई भी पुराण नहीं है जिसमें नैमिषारण्यतीर्थकी महिमाका उल्लेख न हो ।

सत्ययुगमें नैमिषारण्य तीर्थ, त्रेतामें पुष्कर, द्वापरमें कुरुक्षेत्र तथा कलियुगमें गङ्गाजी प्रधान हैं । वैदिक कालसे लेकर पौराणिक कालतक नैमिषारण्य-तीर्थ ज्ञानयज्ञोंका केन्द्र रहा है । यहींपर भगवान् बादरायणने वेदोंका सम्पादन करके 'व्यास'की उपाधि प्राप्त की तथा ब्रह्मसूत्र, महाभारत एवं अष्टादश पुराणोंका निर्माण किया ।

शिवपुराण, वायुपुराण आदिमें प्रायः नैमिशा (षा) रण्यक्षेत्रकी अधिकांश निरुक्ति इस प्रकारसे की गयी है—

नैमिश (ष) नाम क्यों पड़ा ?

एतन्मनोमयं चक्रं मया सृष्टं विसृज्यते ।
यत्रास्य शीर्यते नेमिः स देशस्तपसः शुभः ॥
इत्युक्त्वा सूर्यसंकाशं चक्रं सृष्ट्वा मनोमयम् ।
प्रणिपत्य महादेवं विससर्ज पितामहः ॥
तेऽपि हृष्टतरा विप्राः प्रणम्य जगतां प्रभुम् ।
प्रययुस्तस्य चक्रस्य यत्र नेमिर्व्यशीर्यत ॥
चक्रं तदपि संक्षिप्तं श्लक्ष्णं चारु शिलातले ।
विमलस्वादुपानीये निपपात वने क्वचित् ॥
तद् वनं तेन विख्यातं नैमिशं मुनिपूजितम् ॥

(शिवमहा० वायवीयसं० ७ । ३ । ५३-५७)

भगवान् ब्रह्माने सत्ययुगके आरम्भमें जब सृष्टिको रचा था, तब यहाँ एक अरण्य (वन) था । तभी सब ऋषियोंने ब्रह्मासे प्रार्थना की कि 'हे नाथ ! संसारमें कौन-सी भूमि सबसे पवित्र है, जहाँपर हमलोग तपस्या

तथा यज्ञ करें ।' तब ब्रह्माजीने सूर्यके समान तेजस्वी एक मनोमय चक्र उत्पन्न करके कहा कि 'जिस स्थानपर इस चक्रकी नेमि शीर्ण होकर गिरे, उस भूमिको सर्वश्रेष्ठ तपस्याके योग्य जानना। ऐसा कहकर ब्रह्माजीने सूर्य-सदृश तेजस्वी मनोमय चक्रकी रचना करके महादेवजीको प्रणाम कर उसे छोड़ दिया । ऋषिगण उन जगदीश्वरको प्रणाम करके उस चक्रके पीछे प्रसन्न होकर चल पड़े । उस चक्रकी नेमि इसी अरण्य (वन) में पहले पत्थरपर गिरी पुनः जलमें जाकर शीर्ण हो गयी । तबसे यह ऋषियोंद्वारा पूजित अरण्य नैमिश-अरण्य अर्थात् नैमिशारण्यके नामसे विख्यात हुआ ।'

नैमिष शब्दका तात्पर्य मूर्धन्य षकार ग्रहण करनेमें वराहपुराण-लिखित गौरमुख ऋषिकी कथासे इस प्रकार ज्ञात होता है—भगवान्ने एक निमिषकालमें अर्थात् जितनी देरमें पलक गिरती है, उतने समयमें इस अरण्यमें दानव-दलका विनाश किया था । इसीलिये इस स्थानका नाम नैमिषारण्य पड़ा ।'

सेवा-पीठ

नैमिषारण्य भगवत्-सेवी जनोंका सेवा-पीठ है । स्कन्दपुराणके माहेश्वरखण्डमें आया है—

तीर्थानामुत्तमं तीर्थं क्षेत्राणां क्षेत्रमुत्तमम् ।
तत्रैव नैमिषारण्ये शौनकाद्यास्तपोधनाः ॥
दीर्घसत्रं प्रकुर्वन्तः सत्रिणः कर्मचेतसः ।

अर्थात् 'तीर्थोंमें सबसे उत्तम तीर्थ तथा क्षेत्रोंमें सबसे उत्तम क्षेत्र नैमिषारण्य है, जहाँ तपस्वी शौनकादि ऋषिजन बड़े-बड़े यज्ञ करते रहे हैं ।' श्रीमध्वसम्प्रदायके आचार्य श्रीविजयध्वज तीर्थ कहते हैं—'निमिष या तिनिष एक प्रकारका फल होता है जिसे ऋषिलोग खाते हैं । अथवा तिनिष या निमिष-फल सेवन करनेवाले निमिष नामक ऋषिकी तपोभूमि होनेके कारण इस स्थानका नाम नैमिष हुआ है ।

नैमिषे हरिमव्ययम् । (स्तोत्ररत्नाकर)

अर्थात् नैमिषारण्यमें विष्णु भगवान् सदैव वास करते हैं ।

कुशहस्तस्तु नैमिषे । (योगिनी-तन्त्र)

अर्थात् 'कुशहस्त' शिवजी नैमिषमें वास करते हैं ।

प्रथमं पुष्करं तीर्थं नैमिषारण्यमेव च ।
प्रयागं च प्रवक्ष्यामि धर्मारण्यं तृतीयकम् ॥

(यजुः-आह्निक-सूत्रावली)

अर्थात् एक पुष्कर, दूसरा नैमिषारण्य तथा तीसरा प्रयाग—ये तीन धर्मारण्य अथवा धर्मादिको सफल करनेवाले हैं । प्रातःस्मरणीय पूज्यपाद गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने रामचरितमानसके बालकाण्डमें लिखा है—

तीरथ बर नैमिष बिख्याता । अति पुनीत साधक सिधि दाता ॥

अर्थात् 'तीर्थोंमें श्रेष्ठ नैमिषारण्य प्रसिद्ध, बहुत पवित्र और साधना करनेवालोंको सिद्धि देनेवाला है ।' यह नैमिषारण्य उत्तरभारतमें पावनसलिला गोमतीके तटपर स्थित है । पुराणोंमें भी इसी प्रकारका वर्णन है । राजा मनुने अपनी रानी शतरूपाके साथ यहीं तपस्या की थी । भगवान् विष्णुका मनोमय चक्र यहीं शीर्ण हुआ था, जिसके नामपर आज भी यहाँ 'चक्रतीर्थ' प्रसिद्ध है । इन सब प्रमाणोंसे सिद्ध होता है कि यही वह नैमिषारण्य है जो आज उत्तरप्रदेशके सीतापुर जिलेमें बालामऊ-सीतापुर-ब्रांच लाइनपर स्थित रेलवेस्टेशन है ।

महात्माओंका प्राचीन निवास-केन्द्र

नैमिषारण्य प्रत्येक युगमें महात्माओं, तपस्वियों, वीतरागी, सर्वहितैषी महापुरुषोंका निवासकेन्द्र रहा है । दैवी महाशक्तियोंके द्वारा प्रमाणित यहाँकी दिव्य पवित्र भूमि उच्चतम मानवीय विचार-स्थितिके लिये अत्यन्त उपयोगी है । उर्वरा बालुकामयी कुश-काससे सुशोभित, निर्मल गोमतीकी विमल जलधारासे प्रक्षालित, मयूरोंकी मधुर बोलीसे कूजित यहाँकी तीर्थ-भूमि सहज ही सत्त्वगुणकी उत्पादिका है । भारतवर्षके दण्डक, बदरी, पुष्कर आदि नव पुराणप्रसिद्ध अरण्योंमें नैमिषारण्य भी प्रधान अरण्य है ।

प्रत्येक पुराणके प्रारम्भमें वन्दनाके बाद सबसे पहले इसीका उल्लेख होता है कि नैमिषारण्यमें किसी दीर्घ सत्र (बहुत दिनोंतक चलनेवाला विशाल यज्ञ) के अन्तमें शान्त समासीन सूतजीसे मुनियोंने पुराणविषयक प्रश्न किये। सूतजीने उनका उत्तर दिया और इस प्रकार भिन्न-भिन्न पुराणोंकी सृष्टि हुई। पुराणोंमें ऐसा कहा गया है कि अत्यन्त प्राचीनकालमें नैमिषारण्यमें अट्ठासी हजार ऋषि तपस्या करते थे। उस समय एक अत्यन्त विशाल विद्यापीठ नैमिषारण्यमें था, जिसके प्रधान अध्येता सूतजी थे। शौनक उनके प्रधान शिष्य और मुख्य प्रश्नकर्ता थे। उन्होंने सूतजीसे अनेक लोकोपकारी प्रश्न किये।

नैमिषके इतिहासमें महर्षि दधीचिका तप और त्याग, मनु-शतरूपाका अत्यन्त लालसापूर्वक तप करके परमात्म-शक्तिका दिव्यदर्शन, भगवान् रामके दशाश्वमेध-यज्ञोंका अनुष्ठान,पुराणोंकी रचना,पाण्डवोंका एकान्त विचार-चिन्तन, सूत-शौनकादि ऋषि-समाजके धर्म और कर्तव्य-निर्णय-सम्बन्धी विख्यात संवादसे आज कौन परिचित नहीं है। यहाँकी उच्चतम साधना-तपस्याके द्वारा शुद्ध सूक्ष्मबुद्धिसे निर्णय किये हुए मानव-कल्याणकारी सिद्धान्त आज भी शान्तिके पथ-प्रदर्शक हैं।

यज्ञ-स्थल

नैमिषारण्यमें अनेक चक्रवर्ती राजाओंने विशाल यज्ञ किये, अनेक शिष्योंने विद्योपार्जन किया और अनेक ब्रह्मर्षियोंने मुक्ति प्राप्ति की। देवीभागवतमें लिखा है कि कलियुगका प्रवेश नैमिषारण्यमें नहीं होता और लोगोंको यह विश्वास भी है कि नैमिषारण्यकी सीमामें प्रवेश करते ही मनुष्य पापविहीन होकर पुण्यात्मा हो जाता है।

चारों युगोंकी अन्तरात्माको स्पर्श करनेवाले नैमिषारण्यके कुछ प्रमाण—

सत्ययुगमें नैमिषारण्य—नैमिषारण्यमें दक्ष प्रजापतिका आगमन, राजा स्वायम्भुव मनु तथा रानी शतरूपाद्वारा नैमिषारण्यमें तपस्या, पातालपुरीसे राजा प्रह्लादका नैमिषारण्य-आगमन तथा नर-नारायणसे युद्ध।

त्रेतायुगमें नैमिषारण्य—श्रीरामचन्द्रजीद्वारा नैमिषारण्यमें दशाश्वमेध-यज्ञ।

द्वापरमें नैमिषारण्य—श्रीबलरामजीका तीर्थयात्रा करते हुए नैमिषारण्यमें आगमन तथा बल्वल राक्षसका वध।

कलियुगका नैमिषारण्य—कलियुगमें भी यह नैमिषारण्य पावन-सलिला गोमतीके तटपर आज भी अनेक संत-महात्माओंसे सुशोभित बना हुआ है।

नैमिषकी ८४ कोसवाली परिक्रमा

इस क्षेत्रकी ८४ कोसकी परिक्रमा वर्षमें केवल एक बार होती है। यह फाल्गुन कृष्ण अमावस्यासे आरम्भ होकर फाल्गुन शुक्ल नवमीको पुनः नैमिषारण्यमें चक्रतीर्थपर समाप्त होती है। सभी साधु, संन्यासी तथा गृहस्थ अत्यन्त श्रद्धाभावसे दस दिनतक ८४ कोसकी परिक्रमा करते हुए क्रमानुसार ग्यारहवें दिन मिश्रित-तीर्थ पहुँचते हैं। चौरासी कोसकी भूमिमें अट्ठासी हजार ऋषियोंने तपस्या की थी। उन्हींकी परिक्रमा पंद्रह दिनोंतक होती है। पूर्णिमाके दिन होलिका-दाह हो जानेपर यह परिक्रमा समाप्त हो जाती है।

महर्षि श्रीदधीचिने मिश्रित-तीर्थमें ही देवकार्यके लिये शरीर-दान दिया था; जिनकी अस्थिसे वृत्रासुर दैत्य मारा गया। सभी देवताओंका आगमन तथा सभी तीर्थोंका मिश्रण यहाँपर हुआ था, इसीसे इसका नाम मिश्रित (मिसरिखतीर्थ) पड़ा।

नैमिषारण्यकी पवित्र भूमिमें जितने भी दान, पिण्डदान आदि किये जायँ सभी उत्तम होते हैं। यहाँपर प्रत्येक अमावस्याको मेला लगता है तथा सोमवती पर्वका बहुत बड़ा महत्त्व है, जिसमें कई लाख यात्रीगण आकर अत्यन्त श्रद्धाभावसे स्नान-दर्शन करके पापविहीन होते हैं और यज्ञादिका पुण्य प्राप्त करते हैं।

अन्तमें हम नैमिष-वन्दनाके साथ इस लेखका उपसंहार करते हैं—

रुजोहरं यस्य रजः पवित्रं तेजोमयं यत्तमसः परस्तात्।
तेपुस्तपो यत्र महामहर्षयस्तन्नैमिषं मङ्गलमातनोतु॥

'जिसका पवित्र रज रोगोंका हरण करनेवाला, तेजोमय और अन्धकारसे परे है तथा जहाँ बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंने तप किया है, वह नैमिषारण्य सबका मङ्गल करे।'

सम्राट् अकबरद्वारा गोवध-निषेधकी आज्ञा

(श्रीगोवर्धनलालजी पुरोहित)

'गो-रक्षा' भारतीय संस्कृतिका एक चिरन्तन एवं प्रमुख अङ्ग है। महाराज दिलीपने नन्दिनीकी रक्षाके लिये अपने-आपको सिंहको अर्पित कर दिया था। योगेश्वर श्रीकृष्ण गोसेवा करके गोपाल कहलाये। गो-ब्राह्मणकी रक्षा भारतीय शासन-नीतिका प्रमुख अङ्ग रहा है। दूसरे शब्दोंमें कृषि एवं ज्ञानके विकासके लिये ही गो-ब्राह्मणके संरक्षणको अत्यधिक महत्त्व दिया जाता रहा है।

भारत कृषि-प्रधान देश है। कृषिके विकासका मुख्य आधार गो-वंश है। पृथ्वीकी उपमा गायसे देते हुए महाकवि कालिदासने 'रघुवंश' महाकाव्यमें बड़े सुन्दर ढंगसे कहा है—

'पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां
जुगोप गोरूपधरामिवोर्वीम्।'

अतः 'गो-रक्षा'की भावना केवल हिंदू-धर्मसे ही नहीं, अपितु राष्ट्रकी समृद्धिसे जुड़ी है। इसीलिये इसकी रक्षाके हेतु अनेक महापुरुषोंने अपना जीवन ही दाँवपर लगा दिया है, जिनमें पाबूजी, तेजाजी, जम्भाजी तथा बाबा रामदेवजीका नाम विशेष उल्लेखनीय है। गो-सेवाके कारण ही आज ये लोग समाजमें पूज्य समझे जाते हैं।

मुसलमान जब भारतमें आये, तब वे हमारी परम्पराओं एवं मान्यताओंसे परिचित नहीं थे। वे हमसे भिन्न जलवायु तथा भौगोलिक स्थितिके देशसे आये थे। मांसाहारी होनेके कारण प्रारम्भिक मुस्लिम शासक गो-रक्षाके लिये इतने जागरूक नहीं रहे; परंतु कालान्तरमें वे भारतीय मान्यताओंके अधिक निकट आने लगे। मुगलकालमें तो मुस्लिम शासक पूर्णरूपसे भारतीयताके रंगमें रँग गये। इस सम्बन्धमें मुगल-सम्राट् अकबरका नाम विशेष उल्लेखनीय है। वे भारतके शासक थे। भारतीय मान्यताओंके मर्मको पहचाननेमें उन्हें देर नहीं लगी। उनकी उदार वृत्तिके कारण ही उनके दरबारमें हिंदी-कवियोंका एक जमघट-सा लग गया था। दरबारी कवि केवल सम्राट्का यशोगान ही नहीं करते थे; अपितु उन्हें सत्-पथपर चलनेके लिये भी प्रेरित करते रहते थे। इस प्रकारके कवियोंमें 'नरहरि'जीका नाम विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने अपने समयमें गो-रक्षाके लिये एक सशक्त अभियान छेड़ दिया था। सम्राट् अकबरका ध्यान इस ओर आकर्षित करनेके लिये एक दिन उन्होंने एक गायको सम्राट्के न्याय-स्थलपर ला खड़ा किया और गायकी ओरसे एक मार्मिक प्रार्थना कवित्तके रूपमें सम्राट्के सामने प्रस्तुत की—

अरिहि दंत तिनु धरे, ताहि नहिं मारि सकत कोइ।
हम सतत तिनु चरहिं, बचन उच्चरहिं दीन होइ॥
अमरित पय नित स्रवहिं, बच्छ महि थंभन जावहिं।
हिंदुहि मधुर न देहिं, कटुक तुरकहिं न पियावहिं॥
कह कवि नरहरि अकबर, सुनो बिनवति गउ जोरे करन।
अपराध कौन मारियत, मुएहु चाम सेवइ चरन॥

नरहरिजीकी वाणीमें गायकी पीड़ामय प्रार्थनासे सम्राट् अकबरका हृदय पसीजे बिना न रहा और उन्होंने

तुरंत ही गोवध-निषेधकी आज्ञा प्रसारित कर दी। इतना ही नहीं, गो-हत्या करनेवालेके लिये मृत्युदण्डकी भी घोषणा की। अबुलफजलने 'आइना अकबरी' भाग १ पृ० १९३ पर इसका स्पष्ट उल्लेख किया है कि 'सम्राट् अकबरने अपने राज्यमें गो-हत्यापर रोक लगायी।' तत्कालीन हिंदी-कविके एक कवित्तद्वारा भी इस तथ्यकी पुष्टि होती है—

नरहरि कवि सों गऊकी विनती सुनि,
साँची गुन खुलन पै कै मति अकबसी।
अकबर जारि परवाने किये न मारिबे के,
चारिहुँ महीपन लखानी बात हक्सी॥
ब्यापि गयो हुकुम दिलीपतिको हिंद भरि,
वाजिब विचारी मन अति कै करकसी।
जीवन कसाइन कौ गाइन कौ देत भयो,
गाइनकी मौत ले कसाइनको बकसी॥

सम्राट् अकबरके बाद भी कितने ही मुसलमान शासकोंने गायकी रक्षाके लिये समुचित कदम उठाये। उनमें सम्राट् बहादुरशाह जफर, बरेलीके नवाब खान बहादुर खाँ, हैदरअली तथा टीपू सुल्तानका नाम विशेष उल्लेखनीय है। स्वतन्त्रता-आन्दोलनमें भी मद्य-निषेध एवं गो-वध-निषेधकी भावना अपने पूरे ज्वारपर थी। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी और उनके परम शिष्य विनोबा भावे गो-रक्षाको राष्ट्रकी समृद्धिके लिये अनिवार्य मानते थे; परंतु खेद है कि स्वतन्त्रताके बाद केन्द्रिय सरकारने गो-हत्याको रोकनेके लिये कारगर कदम नहीं उठाये। सम्भवतः अंग्रेजी-राज्यमें पली हुई हीन भावनासे अभीतक हम मुक्त नहीं हो पाये। धर्म-निरपेक्षतामें गो-वध-निषेध कहीं आड़े नहीं आता। गायका महत्त्व भारत-जैसे कृषि-प्रधान देश एवं ग्रामीण भारतके लिये बहुत अधिक है। गाँवोंके कृषक मुसलमान आज भी गायको पालते हैं और उनकी संतान बैल आदिकी पूजा बड़े उत्साहसे करते हैं। फिर यह कैसी विडम्बना है कि शहरके कुछ मुट्ठीभर अंग्रेजी-पढ़े राजनेता पूरे राष्ट्रको अपने दुराग्रहका शिकार बनाते जा रहे हैं? गायका सम्बन्ध किसी धर्म एवं जाति-विशेषसे नहीं है, अपितु सम्पूर्ण राष्ट्रके आर्थिक विकाससे जुड़ा है। अतः सरकारको ऐसी भावनाका त्याग कर शीघ्रातिशीघ्र गो-वधको रोकनेके लिये कानून बनानेकी ओर कदम उठाना चाहिये।

हे राम !

(श्रीबालकृष्णजी गर्ग)

हे राम !
शोभाधाम,
छवि-अभिराम,
ललित ललाम !
हे राम !

मैं दीन,
साधनहीन,
बुद्धि-मलीन,
पीड़ित-काम !
हे राम !

दो शक्ति,
जागे भक्ति,
पाऊँ मुक्ति—
हों निष्काम !
हे राम !

हूँ शरण,
लाओ चरण,
कर लूँ वरण—
ध्रुव विश्राम !
हे राम !

कहानी

सब ईश्वरके रूप

(श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

बबलू नौ-दस वर्षका है । अधिक बड़ा नहीं है, फिर भी उसके मनमें तरह-तरहके प्रश्न उठते रहते हैं । ऐसे प्रश्न जिनका उत्तर उसे ठीकसे कोई नहीं दे पाता । यहाँतक कि उसका अपना मन भी नहीं दे पाता । वह भी बस प्रश्न उठाकर ही रह जाता है, उत्तर देनेका बोझ नहीं उठाता । चेष्टा भी करता है, तो उससे उठाया नहीं जाता ।

एक दिन बबलूके मनमें ऐसा ही एक प्रश्न उठा । फिर एकके बाद एक उठते चले गये । जब अपने मनसे ठीक उत्तर नहीं मिला, तब उसने उन्हें पासमें ही बैठी हुई माँके सामने रखते हुए कहा—

'माँ ! यह ईश्वर क्या है ? कहाँ रहता है ? क्या करता है ? क्या खाता-पीता है ? कब सोता-जागता है ? क्या खेल खेलता है ? इसे पढ़ना भी पड़ता है कि नहीं ?'

यह प्रश्नावली अभी और आगे चलती, परंतु चल नहीं पायी । इसे रखते-रखते बबलू जरा रुका-रुका-सा हुआ ही था कि माँ बीचमें ही उत्तर देती हुई बोली—

'बेटा ! तुझे क्या बताऊँ ! इन और इन-जैसे ही और प्रश्नोंका ठीक-ठीक उत्तर मैं भी नहीं जानती । हाँ, इतना मुझे पता है कि यहाँ सब ईश्वरका ही रूप है । जो सबमें ईश्वरको देखता है, सबसे प्यार करता है, सबकी सेवा करता है, वह आप भी ईश्वररूप हो जाता है और फिर उसे इन सारे प्रश्नोंका उत्तर सहज ही स्वयं मिल जाता है । अपने-आपसे अपना कुछ छिपा नहीं रहता ।'

बबलू कुछ समझा, कुछ नहीं समझा । फिर भी उसने माँकी बात गाँठ बाँध ली । उसपर चलनेका भी निश्चय कर लिया—चलने भी लगा, चलनेका फल यह निकला कि उसे सब अपने लगने लगे । उससे सबकी सेवा सहज होने लगी । उसे कुछ ऐसा भी लगने लगा कि जैसे वह जो है, वह न रहकर कुछ और होता जा रहा है ।

एक दिनकी बात है । गर्मीका मौसम था । दोपहरके समय बबलूके बाबा चौकेमें बैठे भोजन कर रहे थे । उसकी माँ उन्हें भोजन करा रही थी । साथ-साथ उन्हें पंखा भी झलती जा रही थी । वह समीप ही खड़ा था । भोजन करते-करते बाबाको जल पीनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई । पानीके गिलासमें दो-चार घूँट जल डालकर फिर उसे भूमिपर रखते हुए वे सहसा उससे बोले—

'बेटा बबलू ! घड़ेका पानी तो आज पिया ही नहीं जा रहा है । बिल्कुल ठंडा नहीं लग रहा है । तू जरा एक लोटा बरमेका पानी तो ले आ ।' गलीके नुक्कड़पर बरमा लगा हुआ था । उसका पानी बर्फ-जैसा ठंडा था । बबलू तुरंत लोटा लेकर पानी लानेके लिये बरमेपर पहुँचा । पानी भरकर जैसे ही वह चलनेको उद्यत हुआ कि कहींसे चली आती एक बुढ़िया बरमेके पास रुककर उससे विनती-सी करती हुई बोली—

'बेटा ! बड़ी प्यास लगी है । दो घूँट पानी पिला दे । तुझे बड़ा पुण्य होगा ।'

बबलूने बड़े प्रेमसे, बड़ी श्रद्धाभावनासे उसे पानी पिलाया । वह बहुत प्यासी थी । लोटेका सारा पानी पी गयी । पानी पी अपनी प्यास शान्त कर उसने बबलूको उसके सिरपर प्यारसे हाथ फेर बहुत-बहुत असीसें दीं । उसके जानेके बाद बबलू पुनः लोटा भरकर चलनेको ही था कि एक बूढ़ा आकर पानी पिलानेके लिये कहने लगा । वह उसे पानी पिला चुका ही था कि उसीकी उम्रकी एक लड़की आ गयी । फिर एक लड़का । फिर एक कोई मजदूर । संयोगकी बात इसी तरह कभी कोई कभी

कोई आता रहा और सबको पानी पिलाते-पिलाते बबलूको बरमेपर अधिक देर हो गयी। जब वह पानी लेकर घर पहुँचा, तब उसके बाबा भोजन करके थालीपरसे उठनेको ही थे। इतनी देरतक उसके न आनेके कारण उन्हें घड़ेका पानी ही पीनेको विवश होना पड़ा था। इससे उन्हें उसपर बहुत क्रोध आ रहा था। फलतः उसके लौटकर आते ही वे गरजते-बरसते हुए-से स्वरमें उससे बोले—

'अबतक कहाँ रहा नालायक? खेलने, गप्पें लड़ानेके सिवा तुझे कुछ और भी काम है? चल, हट, अब मुझे नहीं चाहिये बरमेका पानी।' इतना कह उत्तरमें बबलूको कुछ भी कहनेका अवसर न दे, बाबा कुल्ला कर हाथ धो बाहर पनवाड़ीकी दूकानपर पान खाने चले गये। प्रातः-सायं भोजन कर चुकनेपर पान खाना उनका नियम-सा हो गया था। बाबाके चले जानेपर बबलू रुआँसा-सा होकर माँसे बोला—

'माँ! माँ! जरा देरसे आनेपर ही बाबा मुझसे इतने रुष्ट क्यों हो गये? मेरा लाया हुआ पानी भी उन्होंने नहीं पिया। यह क्या कोई अच्छी बात है?'

माँ उत्तरमें कुछ कहती कि इससे पहले ही बबलू कुछ सोचता हुआ पुनः बोला—'और माँ! बाबा इतना क्रोध क्यों किया करते हैं? बाबा भी तो ईश्वररूप ही हैं न? तो फिर क्या ईश्वर भी क्रोध किया करता है, रुष्ट हुआ करता है?'

माँ उत्तरमें कुछ सोचती हुई-सी बोली—'बेटा! इसमें तो संदेह नहीं कि सब ईश्वरके रूप हैं, पर ईश्वर कब किस रूपमें क्या लीला किया करता है, यह समझमें नहीं आता।' इतना कहकर माँ क्षण-दो-क्षणको रुकी। फिर इतना कहकर कि 'तू चलकर मेरे कमरेमें बैठ। भोजन करके मैं वहीं आती हूँ। तब तुझसे इस विषयमें और बात करूँगी।' वह तो भोजन करने लगी और बबलू उसके कमरेमें चला गया।

भोजन करके बबलूके पास कमरेमें पहुँचकर माँ उसे प्यार करके उसका रुआँसापन दूर करनेका प्रयास कर ही रही थी, और कोई बात भी नहीं कर पायी थी कि सहसा बाबा 'बबलू!', 'बबलू!' पुकारते हुए वहाँ आ पहुँचे। आते ही वे भाव-विह्वल स्वरमें बबलूसे बोले—

'बेटा बबलू! तूने तो आज कमाल कर दिखाया। मुझे नहीं मालूम था कि तुझमें इतना देवतापन जाग गया है। मुझे क्षमा करना, मेरे बेटे! मैंने व्यर्थ ही तुझपर क्रोध किया। यहाँतक कि क्रोधमें आकर तेरा लाया हुआ पानीतक नहीं पिया। सच, कितना बुरा हूँ मैं!'

'पिताजी! ऐसा क्या कर दिखाया इस लँगरेने, जो आप इस तरह अपनेपर ग्लानि-सी खाते हुए इससे क्षमा माँग रहे हैं?'

बबलू उत्तरमें कुछ कहता कि इससे पहले ही उसकी माँ ससुरके इस तरह बोलनेसे कुछ लज्जा-सी अनुभव करती साथ ही अपने बेटेपर कुछ गर्वसे भी भरी हुई बोल पड़ी।

प्रत्युत्तरमें बाबा हँसकर बोले—'इसे लँगरा न समझो, बहू! इसमें बड़े गुण आ गये हैं।' इतना कह बाबाने बहूको पनवाड़ीसे सुनी हुई बबलूके बिना भेद-भावके सबको प्रेमसे, सेवा-भावसे पानी पिलानेकी सारी बात विस्तारसे कह सुनायी।

उसे सुनकर माँके गर्व एवं प्रसन्नताकी जैसे सीमा ही नहीं रह गयी; परंतु वह बोली कुछ नहीं। बोलती कैसे। उससे बोला ही नहीं जा रहा था। साथ ही वह बोलना चाह भी नहीं रही थी। कुछ देर पीछे बाबा ही पुनः बोले—'एक बात समझमें नहीं आ रही है बहू!' वह यह कि इस छोटे-से बालकमें यह विशेषता कैसे आ गयी, कहाँसे आ गयी? तुम्हें कुछ पता है?'

यों सीधा प्रश्न किया जानेपर माँने जो-जो प्रश्न उससे बबलूने किये थे तथा उत्तरमें जो-जो कुछ इसने कहा था, वह सब बाबाको विनीत शब्दोंमें बता दिया।

उसे सुनकर बाबा हर्ष एवं आश्चर्यसे भरकर प्रश्न-सा करते हुए बोल पड़े—'अरे! तो इस जरा-से छोकरेने तुम्हारी ऐसी गूढ़ बात गाँठ बाँध ली?'

माँको उत्तरमें कहना ही क्या था। फिर प्रश्न-सा ही किया गया था, प्रश्न नहीं। फलतः बाबाने भी उत्तरमें कुछ सुननेकी अपेक्षा न रख बबलूको उसकी माँके पाससे खींचकर कुछ इस तरह अपनी छातीसे चिपटा लिया, जैसे वही उत्तर हो।

बाबाके इस तरह अपनेपर प्रसन्न होनेसे बबलूको बड़ी प्रसन्नता हो रही थी। उनके मुँहसे अपनी प्रशंसा सुनकर उसे अपनेपर कुछ तो गर्व भी हो रहा था। यह और बात है कि इस गर्व एवं प्रसन्नताको प्रकट करनेके लिये उसे अबतक अवसर नहीं मिला था। अब वह अवसर भी मिल गया। बाबाकी छातीसे लगे-लगे सहसा उसकी जिह्वासे मान-भरे स्वरमें निकला—

'तो फिर, बाबा! तुम मुझसे रुष्ट क्यों हुए? मेरा लाया हुआ पानी क्यों नहीं पिया? मुझसे पूछा तो होता—देर क्यों हुई?'

बाबा लज्जित-से हुए हँसकर बोले—'बात यह है बेटा! कि मेरे ईश्वररूप होनेमें अभी कसर रह गयी है।'

'यह आप कैसी बात कह रहे हैं पिताजी!' बाबा अपना कथन ठीकसे पूरा नहीं कर पाये थे कि बबलूकी माँ जल्दीसे बोली—'जाने कैसी—कितनी लज्जासे भरकर।' उससे उनका इस तरह बोलना सहा नहीं जा रहा था। पर वह इतना ही बोलकर रह गयी। आगे उससे और कुछ बोला भी नहीं गया।

'न, न, बहू! यह तो मैं भूलसे कह गया।' माँके मनकी व्यथाको समझ, उसका उपचार-सा करते हुए बाबा भी जल्दीसे बोले—'मैं हूँ, न हूँ, मेरा यह लाडला—मेरा यह कुलदीपक तो ईश्वररूप हो ही गया है और जब यह हो गया, तो मैं भी हो ही गया। अन्ततः यह तुम्हारा जाया मेरा ही तो अंश है। इसकी रगोंमें मेरा ही खून तो बह रहा है।'

इतना कहकर बाबाने छातीसे लगे बबलूको और भी कसकर छातीसे चिपटा लिया—और भी कसकर ही नहीं, और भी गर्वसे भरकर और भी प्रसन्नतासे उमड़कर।

अब और कहने-सुनने, जानने-समझनेको किसीके पास कुछ नहीं रह गया था। यह सब करनेकी स्थितिमें भी नहीं रह गये थे वे। सर्वथा डूबे-डूबे-से—खोये-खोये-से होकर रह गये थे ज्ञानके—आनन्दके सागरमें।

यही तो ईश्वररूप होना है।

दूसरोंकी तृप्तिमें अपनी तृप्ति

कलकत्तेके सुप्रसिद्ध विद्वान् श्रीविश्वनाथ तर्कभूषण बीमार पड़े थे। चिकित्सकने उनकी परिचर्या करनेवालोंको आदेश दिया—'रोगीको एक बूँद भी जल नहीं देना चाहिये। पानी देते ही उसकी दशा चिन्ताजनक हो जायगी।'

श्रीतर्कभूषणजीको बहुत तीव्र प्यास लगी थी। उन्होंने घरके लोगोंसे कहा—'अबतक मैंने ग्रन्थोंमें पढ़ा है तथा स्वयं दूसरोंको उपदेश दिया है कि समस्त प्राणियोंमें एक ही आत्मा है, आज मुझे इसका अपरोक्षानुभव करना है। ब्राह्मणोंको निमन्त्रण देकर यहाँ बुलाओ और उन्हें मेरे सामने शरबत, तरबूजका रस तथा हरे नारियलका पानी पिलाओ।' घरके लोगोंने यह व्यवस्था कर दी। ब्राह्मण शरबत या नारियलका पानी पी रहे थे और तर्कभूषणजी अनुभव कर रहे थे—'मैं पी रहा हूँ।' सचमुच उनकी रोगजन्य तृषा इस अनुभवसे शान्त हो गयी।

गीता-तत्त्व-चिन्तन

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

गीतामें प्रवृत्ति और निवृत्तिपरक साधन

लौकिक दृष्टिसे किसी क्रियामें प्रवृत्त होना 'प्रवृत्ति' और क्रियासे निवृत्त होना 'निवृत्ति' कहलाती है। ऐसे ही लौकिक दृष्टिसे गृहस्थाश्रम प्रवृत्तिपरक और संन्यासाश्रम निवृत्तिपरक कहलाता है; परंतु गीताकी दृष्टिसे यदि भीतरमें विषयोंका राग, कामना, आसक्ति है तो बाहरकी निवृत्ति भी प्रवृत्ति है और भीतरमें राग, कामना, आसक्ति नहीं है तो बाहरकी प्रवृत्ति भी निवृत्ति है। जो बाहरकी क्रियाओंसे तो निवृत्त हो गया है, पर मनसे रागपूर्वक विषयोंका चिन्तन करता है, उसकी इस निवृत्तिको गीताने मिथ्याचार (पाखण्ड) बताया है (३ । ६)।

गीतामें कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—इन तीनों ही साधनोंको प्रवृत्ति और निवृत्तिपरक बताया गया है। तात्पर्य यह है कि ये तीनों ही साधन प्रवृत्तिमें रहते हुए, गृहस्थमें रहते हुए, सब काम करते हुए भी किये जा सकते हैं और निवृत्तिमें रहते हुए, सांसारिक कामोंसे निवृत्त होकर भी किये जा सकते हैं; जैसे—

कर्मयोग

(१) प्रवृत्तिपरक कर्मयोग—जिसमें कर्मफलकी इच्छा, कामना, आसक्ति न हो और अपने कर्तव्यका तत्परतासे पालन किया जाय, वह प्रवृत्तिपरक कर्मयोग है। तात्पर्य यह है कि शास्त्रविहित कर्म करते हुए, सांसारिक प्रवृत्तिमें रहते हुए भी निर्लिप्त रहना प्रवृत्तिपरक कर्मयोग है। जैसे, कर्म करनेमें तुम्हारा अधिकार है, फलमें नहीं (२ । ४७); योगमें अर्थात् समतामें स्थित होकर तू कर्म कर (२ । ४८); न तो कर्मोंका आरम्भ किये बिना निष्कर्मताकी प्राप्ति होती है और न कर्मोंके त्यागसे ही (३ । ४); तुझे नियत कर्मोंका त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है (३ । ८); ब्रह्माजीने भी सृष्टिरचनाके समय प्रजासे कर्तव्यपालनके लिये कहा (३ । १०–१२); भगवान् भी लोकसंग्रहके लिये कर्म करते हैं (३ । २२–२४); आदि।

(२) निवृत्तिपरक कर्मयोग—जिसमें कर्मोंसे उपरति रहती है और पदार्थोंका त्याग रहता है, वह निवृत्तिपरक कर्मयोग है। यह कर्मोंसे उपराम होना और पदार्थोंका त्याग करना भी केवल लोगोंके हित (कल्याण) के लिये ही होता है अर्थात् निवृत्तिरूप कर्म भी संसारके हितके लिये ही होता है, इसमें अपना कुछ भी मतलब नहीं होता। जैसे, शरीर और अन्तःकरणको वशमें करनेवाला, सब प्रकारके संग्रहका त्याग करनेवाला और संसारकी आशासे रहित कर्मयोगी केवल शरीर-सम्बन्धी कर्म करता हुआ भी बँधता नहीं (४ ।२१)।

ज्ञानयोग

(१) प्रवृत्तिपरक ज्ञानयोग—गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं; गुणोंके सिवाय अन्य कोई कर्ता नहीं है; सम्पूर्ण क्रियाएँ गुणोंमें, इन्द्रियोंमें ही हो रही हैं—ऐसा समझकर कर्तृत्वाभिमानसे रहित होकर क्रियाएँ करना प्रवृत्तिपरक ज्ञानयोग है। जैसे, गुण-कर्मके विभागको जाननेवाला ज्ञानयोगी 'सम्पूर्ण क्रियाएँ गुणोंमें ही हो रही हैं'—ऐसा मानकर कर्म करते हुए भी उनमें आसक्त नहीं होता (३ । २८); जो पुरुषको और गुणोंके सहित प्रकृतिको ठीक-ठीक जानता है, वह सब तरहका

बर्ताव करता हुआ भी बन्धनको प्राप्त नहीं होता (१३।२३); जिसमें अहंकृतभाव और फलेच्छा नहीं है, वह सम्पूर्ण प्राणियोंको मारनेपर भी अर्थात् घोर-से-घोर कर्म करनेपर भी उस कर्मसे बँधता नहीं (१८।१७);आदि।

(२) **निवृत्तिपरक ज्ञानयोग**—सांसारिक प्रवृत्तिसे, कर्मोंसे निवृत्त होकर एकान्तमें केवल अपने स्वरूपका, परमात्माका ध्यान-चिन्तन करना निवृत्तिपरक ज्ञानयोग है। जैसे, सात्त्विकी बुद्धिसे युक्त, वैराग्यके आश्रित, एकान्तमें रहनेके स्वभाववाला और नियमित भोजन करनेवाला ज्ञानयोगी साधक धैर्यपूर्वक इन्द्रियोंका नियमन करके, शरीर-वाणी-मनको वशमें करके, शब्दादि विषयोंका त्याग करके और राग-द्वेषको छोड़कर निरन्तर परमात्माके ध्यानमें लगा रहता है, वह अहंकार, हठ, घमंड, काम, क्रोध और संग्रहका त्याग करके तथा ममतारहित एवं शान्त होकर ब्रह्मप्राप्तिका पात्र हो जाता है (१८।५१–५३)।

भक्तियोग

(१) **प्रवृत्तिपरक भक्तियोग**—जिसमें कर्म तो सांसारिक होते हैं, पर वे भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये, भगवान्‌के आश्रित होकर, भगवत्पूजनकी दृष्टिसे किये जाते हैं, वह प्रवृत्तिपरक भक्तियोग है। जैसे, तू जो कुछ कर्म करता है, वह सब मुझे अर्पण कर (९।२७); मेरे लिये कर्म करता हुआ तू सिद्धिको प्राप्त हो जायगा (१२।१०); मनुष्य अपने-अपने कर्मोंके द्वारा उस परमात्माका पूजन करके सिद्धिको प्राप्त हो जाता है (१८।४६); मेरा भक्त मेरे आश्रित होकर सब कर्म सदा करता हुआ मेरी कृपासे अविनाशी पदको प्राप्त हो जाता है (१८।५६); आदि।

(२) **निवृत्तिपरक भक्तियोग**—जिसमें सांसारिक कर्मोंसे उपराम होकर केवल भगवत्सम्बन्धी जप-ध्यान, कथा-कीर्तन आदि कर्म किये जाते हैं, वह निवृत्तिपरक भक्तियोग है। जैसे, निरन्तर मुझमें लगे हुए वे दृढ़व्रती भक्त भक्तिपूर्वक मेरे नामका कीर्तन करते हैं, मेरी प्राप्तिके लिये उत्कण्ठापूर्वक साधन करते हैं और मुझे नमस्कार करते हुए मेरी उपासना करते हैं (९।१४); तू मेरा भक्त हो जा, मुझमें ही मनवाला हो जा, मेरा ही पूजन करनेवाला हो जा और मुझे ही नमस्कार कर (९।३४); मुझमें मनवाले, मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्त आपसमें मेरे गुण, प्रभाव आदिको जानते हुए और उनका कथन करते हुए नित्य-निरन्तर संतुष्ट रहते हैं (१०।९); आदि।

तात्पर्य यह है कि साधन करनेकी शैली दो प्रकारकी है, एकमें तो व्यवहारको रखते हुए परमात्माकी ओर चलते हैं और दूसरीमें व्यवहारका त्याग करके परमात्माकी ओर चलते हैं। व्यवहारको रखते हुए साधन करना प्रवृत्तिपरक है और व्यवहारका त्याग करके साधन करना निवृत्तिपरक है। जैसे, मनु, जनक आदि राजा प्रवृत्तिपरक हुए हैं और सनकादि, शुकदेवजी आदि निवृत्तिपरक हुए हैं। वास्तवमें देखा जाय तो कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—इन तीनों ही साधनोंमें निवृत्ति है अर्थात् प्रवृत्तिमें भी निवृत्ति है और निवृत्तिमें भी निवृत्ति है। कारण कि इन तीनों ही साधनोंमें संसारके सम्बन्ध (राग) का त्याग और परमात्मासे सम्बन्ध होता है।

गीतामें चार आश्रम

यथा सर्वेषु शास्त्रेषु प्रोक्ताश्चत्वार आश्रमाः।
गीतया न तथा प्रोक्ताः संकेतेनैव दर्शिताः॥

गीतामें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णोंका वर्णन तो स्पष्टरूपसे आया है; जैसे—**'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्'** (४।१३); **'ब्राह्मण-क्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप'** (१८।४१) आदि; परंतु ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—इन

चारों आश्रमोंका वर्णन स्पष्टरूपसे नहीं आया है। इन चारों आश्रमोंका वर्णन गीतामें गौणतासे, संकेतरूपसे माना जा सकता है; जैसे—

(१) जिस परमात्मतत्त्वकी इच्छा रखकर ब्रह्मचारीलोग ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं—**'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति'** (८ । ११) पदोंसे ब्रह्मचर्य-आश्रमका संकेत मान सकते हैं।

(२) जो मनुष्य दूसरोंको उनका भाग न देकर स्वयं अकेले ही भोग करता है, वह चोर ही है—**'तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः'** (३ । १२); जो केवल अपने शरीरके पोषणके लिये ही पकाते हैं, वे पापीलोग तो पापका ही भक्षण करते हैं—**'भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्'** (३ । १३) आदि पदोंसे गृहस्थ-आश्रमका संकेत मान सकते हैं।

(३) कितने ही मनुष्य तपस्यारूप यज्ञ करनेवाले हैं—**'तपोयज्ञाः'** पदसे वानप्रस्थ-आश्रमका संकेत मान सकते हैं।

(४) जिसने सब प्रकारके संग्रहका सर्वथा त्याग कर दिया है—**'त्यक्तसर्वपरिग्रहः'** (४ । २१) पदोंसे संन्यास-आश्रमका संकेत मान सकते हैं।

गीतामें वर्णोंका स्पष्टरूपसे और आश्रमोंका संकेतरूपसे वर्णन करनेका कारण यह है कि उस समय प्राप्त कर्तव्य-कर्मरूप युद्धका प्रसङ्ग था, आश्रमोंका नहीं। अतः भगवान्‌ने गीतामें वर्णगत कर्तव्य-कर्मका अधिकतर वर्णन किया है। उसमें भी यदि देखा जाय तो क्षत्रियके कर्तव्य-कर्मका जितना वर्णन है, उतना ब्राह्मण, वैश्य और शूद्रके कर्तव्य-कर्मका वर्णन नहीं है।

आश्रमोंका स्पष्टरूपसे वर्णन न करनेका दूसरा कारण यह है कि अन्य शास्त्रोंमें जहाँ आश्रमोंका वर्णन हुआ है, वहाँ क्रमशः आश्रम बदलनेकी बात कही गयी है। आश्रम बदलनेकी बात भी मनुष्योंके कल्याणके लिये ही है; परंतु गीताके अनुसार अपना कल्याण करनेके लिये आश्रम बदलनेकी आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत जो जिस परिस्थितिमें, जिस वर्ण, आश्रम आदिमें स्थित है, उसीमें रहते हुए वह अपने कर्तव्यका पालन करके अपना कल्याण कर सकता है। इतना ही नहीं, युद्ध-जैसे घोर कर्ममें लगा हुआ मनुष्य भी अपना कल्याण कर सकता है। तात्पर्य यह है कि आश्रमोंके भेदसे जीवके कल्याणमें भेद नहीं होता है। वर्णोंका भेद भी कर्तव्य-कर्मकी दृष्टिसे ही है अर्थात् जो भी कर्तव्य-कर्म किया जाता है, वह वर्णकी दृष्टिसे किया जाता है। इसलिये भगवान्‌ने चारों वर्णोंका स्पष्ट वर्णन किया है। वर्णोंका वर्णन करनेसे चारों आश्रमोंका वर्णन भी उसके अन्तर्गत आ जाता है; क्योंकि चारों वर्णोंवाले मनुष्य ही चार आश्रमोंमें जाते हैं, आश्रम बदलते हैं। इस दृष्टिसे भी स्वतन्त्ररूपसे आश्रमोंका वर्णन करनेकी आवश्यकता नहीं होती।

भगवती गौरी देवी

गौरारुण शुभवर्ण, मुकुट सिर रत्न विराजित।
नील वसन, गल रत्न-कुसुम-हारावलि राजित॥
शूल-बाण-धनु-परशु हस्त, भुजबन्ध सु-राजित।
कटि काञ्ची सुक्वणित, रणित पग नूपुर भ्राजित॥
तेज-पुंज तन, तीन नेत्र उज्ज्वल सुषमामय।
हर-प्रिया हिम-गिरि-वासिनि माँ गौरी जय जय॥

—श्रद्धेय श्रीभाईजी

विनम्रता

(डॉ० श्रीभुवनेश्वरप्रसादजी वर्मा 'कमल', एम्० ए०, डी० लिट्०)

विनम्रताकी प्रशंसा भारतीय और पाश्चात्त्य सभी मनीषियोंने एक स्वरसे की है। इसे मानवके सर्वश्रेष्ठ सद्गुणके रूपमें प्रायः सभीने सराहा है। **'विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्'**—इस सूक्तिके आधारपर महात्मा गाँधीने कहा था कि 'जिसमें नम्रता नहीं आती, वे विद्याका पूरा सदुपयोग नहीं कर सकते।' **'जहाँ काम आवै सुई कहा करै तरवार'**वाले मुहावरेके आधारपर प्रेमचन्दजीने कहा था कि 'जहाँ नम्रतासे काम निकल जाय, वहाँ उग्रता नहीं दिखानी चाहिये।' सुप्रसिद्ध दार्शनिक कन्फ्यूशियसने कहा था कि 'मानव-जीवनके जितने सद्गुण हैं, मनुष्यताके जो भी तत्त्व हैं, उनका ठोस आधार एकमात्र विनम्रता है।'

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने एक ओर जहाँ **'बरषहिं जलद भूमि निअराएँ। जथा नवहिं बुध बिद्या पाएँ॥'** लिखकर विद्याको विनम्रताका मूल कारण माना है, वहीं दूसरी ओर **'तेरे पगकी पगतरी मेरे तनको चाम'** लिखकर अपनी विद्यावनता अथवा विनम्रताका परिचय दिया है। महात्मा कबीरने कहा है—

> **सब ते लघुताई भली, लघुता ते सब होय।**
> **जस द्वितिया को चन्द्रमा सीस नवै सब कोय॥**

अपनी लघुताके कारण ही चींटी शक्कर लेकर चलती है और हाथी सिरपर धूल लिये फिरता है। कबीर कहते हैं—

> **लघुता ते प्रभुता मिले, प्रभुता ते प्रभु दूर।**
> **शक्कर लै चींटी चली हाथीके सिर धूर॥**

विनम्रता मनुष्यकी पहली कसौटी है। सुप्रसिद्ध फ्रेंच दार्शनिक जैवर्टका कहना है कि 'विनम्रता मनुष्यताका शृङ्गार है। जो विनम्र नहीं वह मनुष्य भी नहीं है।' लुडविग लेविसोनने विनम्रताकी परिभाषा देते हुए लिखा है कि 'किसी भी कामको कृपालुतापूर्वक करना अथवा कहना ही विनम्रता है।' पोपने अपने 'टेबुल टॉक' में सच्ची विनम्रताकी परिभाषा देते हुए लिखा है—'किसी भी कामको कृपालुतापूर्वक करना अथवा कहना ही विनम्रता है।' उन्हींके अनुसार विनम्रताकी पहचान यह है कि मनुष्य स्वयं शान्तिका अनुभव करे और अपने व्यवहारसे दूसरोंको भी शान्ति प्रदान करे। महात्मा कबीर कहते हैं—

> **ऐसी बानी बोलिये, मन का आपा खोय।**
> **औरन को सीतल करे, आपहु सीतल होय॥**

स्पष्ट है कि 'मनका आपा' अर्थात् अहंकारको जबतक हम नष्ट नहीं कर देते, तबतक विनम्रता नहीं आ सकती।

महाकवि कालिदासने लिखा है कि 'संसारमें सभी परोपकारी जीव निसर्गतः विनम्र होते हैं।' अपने कथनकी पुष्टिमें उन्होंने अनेक उदाहरण दिये हैं—'वृक्ष फलोंके भारसे झुक जाते हैं, बादल जलसे भर जानेपर धरतीपर लटकने लगते हैं, सत्पुरुष समृद्धि प्राप्तकर परम विनीत बन जाते हैं' आदि*। गोस्वामी तुलसीदासजीने लिखा है कि—लता बिलोकि नवहिं तरु साखा। विनम्रताके अवदानकी चर्चा करते हुए अंग्रेज कवि जॉन बनयानने कहा है कि 'जो व्यक्ति विनम्र हैं, निश्चय ही ईश्वर उनका मार्गदर्शन करते हैं।' आर्थर हेल्प्सने लिखा है

* भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमैर्नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः। अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः स्वभाव एवैष परोपकारिणाम्॥
(अभिज्ञानशाकुन्तलम्)

कि 'विनम्रता मानवके कितने ही हार्दिक कष्टोंकी अचूक महौषधि है।'

महात्मा गाँधीके शब्दोंमें—'अभिमान यदि रात्रिका अन्धकार है तो विनम्रता है दिनका प्रोज्ज्वल प्रकाश।' विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुरने नम्रताको मनुष्यकी महान् विभूति बतलाते हुए कहा था कि 'हम महत्ताके निकट तब होते हैं, जब नम्रतामें महान् होते हैं।' अंग्रेजीके विद्वान् लेखक लॉर्ड चेस्टरफिल्डने सद्गुण और विद्याकी तुलना स्वर्णसे करते हुए कहा है कि 'उनका एक अपना स्थायी मूल्य होता है; किंतु यदि उन्हें रगड़कर चमकाया न जाय तो वे बहुत अंशोंमें अपना सौन्दर्य खो बैठते हैं।' उन्होंने यहाँतक कहा है कि 'मलिन और भद्दे स्वर्णकी अपेक्षा चमकाये गये जस्तेकी ओर लोग अधिक आकृष्ट हो जाते हैं।' तात्पर्य यह कि यदि स्वर्णके समान मूल्यवती विद्वत्ता हमारे पास है तो हमारी विनम्रता उसमें सुगन्ध और चमकका काम करेगी। विनम्रतासे भूषित मूर्ख निश्चय ही समाजमें विनम्रतासे विरहित विद्वान्से कहीं अधिक श्रेष्ठ और आदरणीय होते हैं।

थॉम्स मूर नामक एक अंग्रेज नीतिकारने बड़े ही प्रभावपूर्ण शब्दोंमें लिखा है कि 'बड़ोंके सम्मुख विनम्र होना हमारा कर्तव्य है, समवयस्कोंके सम्मुख विनम्र होना शिष्टाचार है, छोटोंके प्रति विनम्र होना हमारी महत्ता है और सभीके प्रति विनम्र होना हमारी सुरक्षाका कवच है।' सेंट अगस्टाइनकी मान्यता है कि 'अभिमान देवको दानव बना देता है और ठीक इसके विपरीत विनम्रता मनुष्यको देवत्वकी ऊँचाईतक पहुँचा देती है।' महाकवि वर्डसवर्थ विनम्रताकी प्रशस्ति गाते हुए कहते हैं कि 'उड़नेकी अपेक्षा जब हम झुकते हैं, तब हम विवेकके अधिक निकट होते हैं अर्थात् विनम्रता विवेककी पहली और अन्तिम सीढ़ी है।'

ई० एस० मार्टिन नामक एक विद्वान् लेखकने आत्म-सम्मानको सम्पूर्ण विनम्रताओंकी जड़ माना है। उनका विश्वास है कि जिसके पास आत्म-सम्मान होगा, वह अवश्य ही विनयी होगा। इसी संदर्भमें विलियम विन्टरने लिखा है कि 'शिष्टाचार अथवा विनम्रता भद्र आचरणका अन्तिम और चरम पुष्प है।' सुप्रसिद्ध अंग्रेजी साहित्यकार थैकरेका कहना है कि 'समाजमें लोग जिस वस्तुकी अपेक्षा रखते हैं, वह न तो विद्या है, न सद्गुण, अपितु वह है शिष्टाचार अर्थात् विनम्रता।' अंग्रेजी नाटककार आस्कर वाइल्डने लिखा है कि 'जीवनमें दूसरोंको उपदेश देनेसे भी महत्त्वपूर्ण है अपना सदाचरण।' फलतः दूसरोंको उपदेश देनेके पहले शिष्टाचार और सदाचरणका बरतना नितान्त आवश्यक होता है।

सुप्रसिद्ध अंग्रेजी निबन्धकार इमर्सनने विनम्रताका मूल्याङ्कन करते हुए उसे कानूनसे भी ऊँचा माना है। उनका कहना है कि 'अपनी कोमल प्रकृतिके कारण विनम्रता सुरक्षाकी एक दीवालसे अपने चारों ओर इस प्रकारकी किलाबंदी कर लेती है कि उसे कोई तोड़ नहीं सकता।' शास्त्रका कथन है—**'क्षमाखड्गः करे यस्य दुर्जनः किं करिष्यति।'** अर्थात् क्षमारूपी खड्ग जिसके हाथमें है, उसका दुर्जन क्या बिगाड़ सकता है? गोस्वामीजी कहते हैं—'बूँद अघात सहहिं गिरि कैसें। खल के बचन संत सह जैसें॥' यह विनम्रताका ही अवदान है कि संत दुर्जनोंके बचन सहनेमें वज्रसे भी कठोर बन जाते हैं और दुर्जनोंके प्रति बर्ताव करनेमें पुष्पसे भी सुकुमार बने रहते हैं। प्रसिद्ध चिन्तक शोपेनहावरने ठीक ही कहा है कि 'उष्णता जैसे मोमको द्रवीभूत कर देती है वैसे ही विनम्रता मानव-प्रकृतिको कोमल और द्रवित कर देती है।'

शिष्टाचार और विनम्रता बरतनेमें हमारा कुछ भी खर्च नहीं होता, किंतु यह वह पूँजी है जो हमें जीवन-भर लाभ-ही-लाभ देती है। डब्लू० जी० बेन्हम और लेडी मेरी वर्टलेने एक स्वरसे विनम्रताका गुणगान किया है। अंग्रेजीके सुप्रसिद्ध कवि टेनीसनने लिखा है कि 'मनुष्य जितना ही महान् होगा, उसमें उतनी ही अधिक विनम्रता होगी।'

इस संदर्भमें लॉर्ड चेस्टर फिल्डका कहना बड़ा ही महत्त्व रखता है। वे कहते हैं कि 'विनम्रता और कुलीनता किसी भी व्यक्तिके शृङ्गारके लिये नितान्त आवश्यक है। महान् चिन्तक सिसरो विनम्रताके अन्तर्गत शिष्टाचार और सहनशीलताकी गणना करते हुए कहते हैं कि 'किसी भी महान् व्यक्तिके लिये इससे बड़ा और कोई दूसरा सद्‌गुण हो ही नहीं सकता।'

किसी अज्ञात कविने अंग्रेजीमें विनम्रतापर बड़ी सुन्दर कविता लिखी है। उसकी कुछ पंक्तियोंका सारांश यह है कि 'आपके हृदयके द्वार बड़ी आसानीसे छोटी-छोटी कुंजियोंसे खुल जायँगे। आप कृपया भूलें नहीं, इनमेंसे एक कुंजी है—'आपको धन्यवाद' कहना और दूसरी कुंजी है—'कृपया' कहना।' कविके कहनेका तात्पर्य यह है कि मनुष्य यदि चाहे तो मात्र इन दो उद्‌गारोंसे अपनी शालीनता और विनम्रताका परिचय देता हुआ सम्पूर्ण विश्वपर विजय प्राप्त कर सकता है।

सच पूछिये तो मीठी बोलीमें ही हमारी विनम्रता संनिहित है। मीठी बोली हमारी विनम्रताका वाङ्मय प्रकाशन है। जॉर्ज हर्बर्टकी तो मान्यता है कि 'मीठी बोलीमें दिये गये आदेशमें जो शक्ति है, वह रोबसे दिये गये आदेशमें नहीं।' जेम्स टी० फिल्ड्सने शिष्टाचारकी परिभाषा बतलाते हुए लिखा है कि 'सामान्य बोल-चालमें भी मनुष्य यदि चाहे तो मीठी बोली और भद्रताके द्वारा अपने चरित्रकी शालीनताका परिचय दे सकता है। सच्चरित्रतामें और रखा ही क्या है।'

जैसे किसी नीतिकारने कहा था—'सच्चरित्रता गयी तो सर्वस्व गया;' वैसे ही टेरेन्स नामक एक अंग्रेजी नाटककारने 'कर्टसी' अर्थात् शिष्टाचार और विनम्रताको जीवनका सर्वस्व माना है। सुप्रसिद्ध अंग्रेजी निबन्धकार इमर्सनने लिखा है कि 'विनम्रता अथवा शिष्टाचारिताके लिये हमें कहीं दूर जानेकी आवश्यकता नहीं पड़ती। हमें कुछ खर्च नहीं करना पड़ता, हम उसे मात्र किंचित् त्यागके द्वारा प्राप्त कर सकते हैं।' एक दूसरे निबन्धमें उन्होंने कहा है कि 'ईश्वर पापोंको क्षमा कर दे सकते हैं, पर स्वर्ग और धरित्रीपर कहीं भी उद्दण्डताके लिये क्षमा नहीं है।' कहनेका तात्पर्य यह हुआ कि हमें इहलोक और परलोकमें सद्‌गति प्राप्त करनेके लिये अनिवार्यतः विनम्र बनना होगा। एक अंग्रेज कवि जॉन बनयानने लिखा था कि 'जो विनम्र है, उसे न किसी प्रकारका भय है न फिसलन। विनम्र मनुष्य तो अहंकारसे सर्वथा परे होते हैं। ईश्वर वैसे मनुष्यका सर्वदा ही मार्गदर्शन और योगक्षेम वहन करते हैं।' आर्थर हेल्प्स नामक एक अंग्रेज विद्वान्‌ने लिखा है कि 'विनम्रता हमारे बहुत-से अवाञ्छित हृद्‌रोगोंकी अचूक चिकित्सा है।' हमारे सुपरिचित निबन्धकार इमर्सनका इस प्रसङ्गमें कहना है कि 'जो व्यक्ति विनम्र होगा, वह इस धरित्रीपर शासन कर सकेगा।' पी० जे० बेलीने लिखा है कि 'मनुष्यमें जितने सद्‌गुण हैं, सभीका मूलाधार विनम्रता है।' अंग्रेजीके सुप्रसिद्ध कवि बायरनने मानव और शिष्टाचारका सम्बन्ध निरूपित करते हुए लिखा है कि 'इन दोनोंमें अन्तर केवल इस बातका है कि पुराकालमें मनुष्योंने शिष्टाचारके नियमोंका निर्माण किया और अब शिष्टाचार मनुष्योंका निर्माण करता है।' इर्फो नामक एक दूसरे ... के कथनका

समर्थन करते हुए कहते हैं कि 'शिष्टाचार ही मनुष्यका सच्चा निर्माता है।'

ईसाइयोंके धर्मग्रन्थ 'बाइबल'में 'नये नियम' की घोषणा है कि 'जो मनुष्य अपनेको बड़ा समझता है, वह गड्ढेमें ढकेल दिया जायगा और जो मनुष्य विनम्रताका आचरण करता है, उसे ऊपर उठा दिया जायगा।' ईसाइयोंके इसी धर्मग्रन्थमें अन्यत्र लिखा है कि 'यदि कोई तुम्हारे एक गालपर तमाचा मारे तो तुम अत्यन्त विनम्रतापूर्वक उसकी ओर अपना दूसरा गाल भी कर दो।' कहनेका तात्पर्य यह है कि विनम्रता और सहनशीलता अथवा तितिक्षा एक ही गुणके दो नाम हैं। जो विनम्र होगा, वह स्वभावतः तितिक्षु भी होगा। बाइबलके इसी भावको होम्स नामक कविने बड़े ही सुन्दर शब्दोंमें गुम्फित करते हुए लिखा है कि 'बुद्धिमानी इसीमें है कि हम शान्त और विनम्र बनकर रहें। यदि हमारे गालपर कोई एक थप्पड़ मारे तो हमें बड़ी शालीनताके साथ अपना दूसरा गाल भी उसकी ओर कर देना चाहिये।'

विनम्रता ही सच पूछिये तो मानव-जीवनकी परम चरितार्थता है। जिसके जीवनमें विनम्रता नहीं है, उसका जीवन निष्फल है। ओवेन मेरिडिथ नामक एक अंग्रेज कविने विनम्रताकी विशेषताओंका गुणगान करते हुए लिखा है कि 'जबतक मनुष्य अपने जीवनमें विनम्रताका पाठ नहीं पढ़ लेता, तबतक वह किसी भी दूसरे पाठको नहीं सीख सकता।' ला रोशफोकल्डनामक एक यूरोपीय विद्वान्ने इस विषयपर अपना मन्तव्य व्यक्त करते हुए लिखा है कि 'विनम्रता वह वेदी है, जिसपर ईश्वर चाहते हैं कि हम अपना बलिदान उन्हें समर्पित करें।' स्पष्ट है कि विनम्र व्यक्तिको ईश्वरार्पित होकर ही अपना जीवन व्यतीत करना होता है। उसका जीवन बलिदान एवं त्यागोंसे परिपूर्ण होता है और इसके लिये उसके हृदयमें दुःखके स्थानपर प्रसन्नता, शोकके स्थानपर उत्फुल्लता और आँसूके स्थानपर मुस्कान भरी होती है। इसी संदर्भमें जेम्स मॉन्टगोमरीने एक कविता लिखी है, जिसका आशय है कि 'सर्वोत्तम श्रृङ्गार उस रमणीका है, जिसने विनम्रताका परिधान पहन रखा है।' नीतिका वचन है—**'स्त्रीणां भूषणं लज्जा।'** उसमें लज्जा विनम्रताका ही पर्याय माना जायगा।

सुप्रसिद्ध दार्शनिक सिसरोने लिखा है—'ऊँचे पदकी मर्यादा विनम्रतामें है। मान-प्रतिष्ठा, पद-वैभवमें हम जितना ही ऊँचा उठें, हमें उतना ही विनम्र बनकर चलना चाहिये।' विनम्रताकी महत्ताका गान करते हुए थैम्स मूरने एक कविता लिखी है, जिसका भावार्थ यह है कि 'विनम्रता वह मधुर मूल है, जिससे सभी दैवी सद्‌गुणोंके पौधे पनपते हैं।' सुप्रसिद्ध अंग्रेजी कवि टेनीसनने 'द होली ग्रेल' शीर्षक कवितामें इसी भावको पुष्ट करते हुए लिखा है कि 'सच्ची विनम्रता सर्वोच्च सद्‌गुण है, जिसे सद्‌गुणोंकी जननी कहना चाहिये।'

विनम्रताकी प्रशंसासे विश्व-साहित्य भरा पड़ा है। एक अज्ञात फ्रेंच कविने लिखा है कि 'टूट जानेकी अपेक्षा झुक जानेमें ही लाभ है। विनम्रता ऐसा ही स्तुत्य सद्‌गुण है।' जार्ज टर्बर भीलका कहना है कि 'विनयी मानव सभीके प्रेमका पात्र बन जाता है।' नॉर्मन मैकलेओडने अपनी एक कविताके माध्यमसे मानव-जातिको संदेश देते हुए कहा है कि 'चाहे तुम्हारा मार्ग कितना भी अंधकारपूर्ण क्यों न हो, तुम लड़खड़ाओ नहीं। विनम्र पुरुषोंके मार्गदर्शनके लिये सदा एक तारा चमकता रहता है। ईश्वरपर विश्वास रखो और सत्कर्म करते चलो।'

ऊपरके विवेचनोंसे यह स्पष्ट है कि विनम्रता मानवका सर्वश्रेष्ठ सद्‌गुण है। वस्तुतः वह मानवताका ही पर्याय है। विनम्रता मानवताकी सच्ची कसौटी है। वह मानवताका शीर्षमुकुट और मुकुटमणि है।

शक्तिके कुछ अवतार

(पं० श्रीलालविहारीजी मिश्र)

(६)

शताक्षी-अवतार

पूर्वकालमें एक दुर्गम नामक असुर पैदा हुआ था। उसे ब्रह्मासे एक अद्भुत वरदान प्राप्त हुआ था। उस वरदानके प्रभावसे उसने चारों वेदोंको विश्वसे लुप्त कर दिया था। बल्कि घमंडमें आकर उसने विश्वको अपमानित और पीड़ित कर रखा था। वैदिक क्रियाका लोप हो जानेसे घोर अवर्षण हो गया था। तीनों लोक त्राहि-त्राहि कर रहे थे। नदी और नद तो सूख ही गये थे, समुद्र भी सूखने लगे थे। पेड़-पौधे सूख गये। भोजन और पानीके अभावसे लोग चेतनाहीन हो रहे थे। तब देवताओंने भगवतीकी शरण ली। उन्होंने करुण-गुहार लगाते हुए कहा कि 'माँ! जैसे आपने शुम्भ और निशुम्भसे हमारी रक्षा की थी, उसी तरह दुर्गमासुरसे भी हमें बचाइये और इसके द्वारा लाये गये इस अकालसे प्राणियोंकी रक्षा कीजिये।'

करुणामयी माँने अपनेको प्रकट कर दिया। अन्न-जलके लिये छटपटाते प्राणियोंको देखकर उन्हें बड़ी दया आयी और उनकी आँखें छलछला उठीं। तब उन्होंने सौ नेत्र प्रकट कर लिये। प्रत्येक नेत्रसे आँसुओंकी अजस्र धाराएँ बह निकलीं, जिससे सभी नदियाँ भर गयीं। माताकी देहसे निकला हुआ यह जल ... था। धन्य हैं वे लोग, जिन्होंने उस अप्राकृतिक जलका पान किया था। इस बार तो देवीके दर्शन भी अद्भुत थे। दो आँखोंमें ही छलकती हुई ममताको देखकर लोग अपनेको धन्य मानते हैं। इस बार तो माताकी ममताको छलकानेवाली और वात्सल्य-रससे लबालब भरी सौ-सौ आँखें थीं। धन्य हैं वे लोग, जिन्हें उस रूपका दर्शन मिला। माँ शताक्षी उस समय नौ दिन और नौ रातें रोती ही रहीं। इस तरह जलकी पूर्ति हो गयी। तत्क्षण सब जगह भोजनके लिये अन्नोंके अम्बार लग गये। पशुओंके लिये लहलहाती घास और दूसरे प्राणियोंके भोजन सब जगह सुलभ हो गये।

दयामयी माँने देवताओंसे पूछा—'देवगण! अब आपलोगोंका और कौन-सा कार्य सिद्ध करूँ?' देवताओंने कहा—'देवि! आपने समस्त विश्वको मरनेसे बचाकर हमलोगोंको तृप्त कर दिया। अब हम सदाके लिये दुर्गमासुरसे विश्वका त्राण पाना चाहते हैं। उसने वेदोंका अपहरण कर लिया है। हम चाहते हैं कि वेद हमें मिल जायँ।'

देवीने कहा—'देवगण! मैं आपकी इच्छाएँ पूरी करूँगी। अब आपलोग निश्चिन्त होकर घर लौट जायँ।' देवताओंने बार-बार प्रणाम किये। उस समय वे प्रेमके आँसुओंसे भींग रहे थे। फिर तो प्रसन्नताकी लहर तीनों

लोकोंमें फैल गयीं । दुर्गमासुर यह जानकर अत्यन्त विस्मित हुआ । वह सोच रहा था कि मैंने तो सारे विश्वको रुला दिया था, आज ये प्रसन्न कैसे हो गये ? वस्तु-स्थितिसे अवगत होते ही दैत्योंने देवपुरीको घेर लिया । करुणामयी माँने देवताओंको कष्टसे बचानेके लिये उनकी नगरीके चारों ओर ज्योतिकी चहारदीवारी खड़ी कर दी और स्वयं उस घेरेसे बाहर आ डटीं । देवीको देखते ही दैत्योंने उनपर आक्रमण कर दिया । देवीने अपने शरीरसे काली, तारा, छिन्नमस्ता, श्रीविद्या, भुवनेश्वरी, भैरवी, बगला, धूम्रा, त्रिपुरसुन्दरी और मातंगी—इन दस महाविद्याओंको प्रकट किया । इन सबने अपने मस्तकों-पर चन्द्रमाको धारण कर रखा था । इन शक्तियोंने देखते-देखते दुर्गमासुरकी सौ अक्षौहिणी सेनाको काट डाला । इसके पश्चात् देवीने दुर्गमासुरको तीखे त्रिशूलसे बींधकर यमलोकका पथिक बना दिया और चारों वेदोंका उद्धार कर देवताओंको दे दिया ।

दयालु शताक्षीने भविष्यके लिये भी वचन दिया कि मुझमें भक्तिभाव रखनेपर मैं सब संकटोंको दूर कर दिया करूँगी । द्वापरके अन्तमें कुछ असुर विश्वका उत्पीडन करेंगे, तब मैं यशोदाके गर्भसे उत्पन्न होकर उनका संहार कर दूँगी । उस समय मेरा नाम नन्दजा होगा । अरुण नामक असुर जब लोगोंको पीड़ित करेगा, तब मैं भ्रमरका रूप धारणकर उसे मार गिराऊँगी । उस समय मेरा नाम 'भ्रामरी' होगा । फिर भीमरूप धारण कर मैं असुरोंका सफाया कर दूँगी, तब मेरा नाम भीमादेवी होगा । मेरे इस अवतारको लोग तीन नामोंसे पुकारेंगे—शताक्षी, शाकम्भरी और दुर्गा ।

(७)

ज्योति-अवतार

एक बार देवताओं और दैत्योंमें युद्ध छिड़ गया । इस युद्धमें देवता विजयी हुए । देवताओंके हृदयमें अहंकार उत्पन्न हो गया । प्रत्येक कहता कि 'यह विजय मेरे कारण हुई है । यदि मैं न होता तो विजय नहीं हो सकती थी ।' माता बड़ी दयालु हैं । वे समझ गयीं कि यह अहंकार देवताओंको देवता न रहने देगा । इसी अहंकारके कारण असुर असुर कहलाते हैं और वही अहंकार इनमें जड़ जमा रहा है । इसके कारण विश्वको फिर कष्टका सामना करना पड़ेगा । इसलिये वे एक तेज:पुञ्जके रूपमें उनके सामने प्रकट हो गयीं । वैसा तेज आजतक किसीने देखा न था । सबका हक्का-बक्का बंद हो गया । वे रुँधे गलेसे एक-दूसरेसे पूछने लगे—'यह क्या है ?' देवराज इन्द्रकी भी बुद्धि भ्रममें पड़ गयी थी ।

इन्द्रने वायुको भेजा कि तुम जाकर उस तेज:पुञ्जका पता लगाओ । वायु देवता भी तो घमंडसे भरे हुए थे । वे तेज:पुञ्जके पास गये । तेजने पूछा—'तुम कौन हो ?' वायुने अभिमानके साथ कहा—'मैं वायु देवता हूँ, प्राणस्वरूप हूँ । सम्पूर्ण जगत्का संचालन करता हूँ !' तेजने वायु देवताके सामने एक तिनका रख दिया और कहा कि 'यदि तुम सब कुछ संचालन कर सकते हो तो इस तिनकेको चलाओ ।' वायु देवताने अपनी सारी शक्ति लगा दी; किंतु तिनका टस-से-मस न हुआ । वे लजाकर इन्द्रके पास लौट आये और कहने लगे कि 'यह कोई अद्भुत शक्ति है, इसके सामने तो मैं एक तिनका भी न उड़ा सका ?' फिर अग्नि भेजे गये । वे भी उस तिनकेको जला न सके और पराजित होकर लौट आये । तब इन्द्र स्वयं उस तेजके पास पहुँचे । इन्द्रके पहुँचते ही वह तेज लुप्त हो गया । यह देखकर इन्द्र अत्यन्त लज्जित हो गये । उनका गर्व गल गया । फिर वे इसी तथ्यका ध्यान करने लगे और उस शक्तिकी [illegible] अभिव्यक्त किया । वे अद्भुत सुन्दरी थीं, लाल साड़ी पहने थीं ।

उनके अङ्ग-अङ्गसे नवयौवन फूट रहा था। करोड़ों चन्द्रमाओंसे बढ़कर उनमें आह्लादकता थी। करोड़ों कामदेव उनके सौन्दर्यपर निछावर हो रहे थे। श्रुतियाँ उनकी सेवा कर रही थीं।

देवी बोलीं—'वत्स! मैं ही परब्रह्म हूँ, मैं ही परम ज्योति हूँ, मैं ही प्रणवरूपिणी हूँ, मैं ही युगलरूपिणी हूँ। मेरी ही कृपा और शक्तिसे तुमलोगोंने असुरोंपर विजय पायी है। मेरी शक्तिसे ही वायु देवता बहा करते हैं और अग्निदेव जलाया करते हैं। तुमलोग अहंकार छोड़कर सत्यको ग्रहण करो।' इस प्रकार देवता असुर होनेसे बच गये। उन्हें अपनी भूल मालूम हो गयी। तब उन्होंने प्रार्थना की कि 'माँ! क्षमा करें, प्रसन्न हो जायँ और ऐसी कृपा करें जिससे हममें अहंकार न आवे। आपके प्रति हमारा प्रेम बना रहे।'

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्

(डॉ० श्रीशरणप्रसादजी)

[रोगोंकी उत्पत्ति और फैलाव]

(१) शरीरके चार शुद्धि-मार्ग—आहार, श्रम, विश्राम, मानसिक अवस्था तथा पञ्चमहाभूतोंका सेवन—इनमेंसे एक या अधिक विषयोंका नियम भङ्ग होनेपर उसका सर्वप्रथम प्रतिकूल परिणाम पाचन-संस्थानपर पड़ता है। इसमें एक ओर ग्रहण किये हुए आहारको पूरी तरह पचानेकी कमी तथा दूसरी ओर आहार-पाचनके पश्चात् जो मल बनता है, उसे भी शरीर शौच-मार्ग तथा अन्य शुद्धि-मार्गोंके द्वारा पूरी तरह बाहर निकाल नहीं पाता। फलतः दूषित पदार्थोंका संग्रह दिन-प्रतिदिन शरीरमें बढ़ने लगता है।

शरीर-शुद्धिके चार मार्ग या संस्थान हैं—

१. **श्वसन**-मार्गसे दूषित वायुके रूपमें विजातीय पदार्थ बाहर निकलता है।
२. **मूत्र**-मार्गसे तरल (मूत्र) रूपमें " " " "।
३. **त्वचा**-मार्गसे तरल (पसीना) रूपसे " " " "।
४. **मल या गुदा**-मार्गसे ठोस (मल) रूपमें " " " "।

उपर्युक्त चारों शुद्धि-मार्गोंद्वारा शरीर अपने-आपको सतत शुद्ध रखनेका प्रयास करता है, परंतु फिर भी जब शरीरमें विजातीय द्रव्यका संचय प्रचुर मात्रामें बढ़ जाता है, तब शरीर-शुद्धिके सभी संस्थान सतत कार्यरत और अतिरिक्त श्रमके कारण थककर रोगग्रस्त हो जाते हैं तथा अपना दैनिक कार्यक्रम पूरा नहीं कर पाते। इसीसे आजका काम कलपर स्थगित होनेके कारण शरीरमें दूषित पदार्थोंका बोझ तेजीसे बढ़ने लगता है। अन्ततोगत्वा अतिरिक्त विजातीय द्रव्योंका अवशोषण रक्तके द्वारा होने लगता है, फलतः रक्त भी अशुद्ध हो जाता है। रक्तकी इस अशुद्धिको शास्त्रीय भाषामें 'अम्लता' कहते हैं। पुनः वही दूषित रक्त शरीरके सभी सामान्य एवं महत्त्वपूर्ण अवयवोंमें संचारित होता है।

(२) रोगका सूत्रपात—प्रत्येक शरीरमें दूषित मल या विजातीय द्रव्यको आत्मसात् या सहन करनेका एक मर्यादा-बिन्दु (Tolerence) या (Saturation point) होता है। अर्थात् कुछ सीमातक शरीर दूषित मलके बोझको सहन करते हुए अपना कार्य चाहे निम्न-स्तर (Low level) पर ही क्यों न हो, करता है।

प्रत्येक व्यक्तिकी जीवनी-शक्तिके अनुसार मर्यादा-बिन्दुके स्तरमें भेद हो सकता है।

कुछ मनचले युवक ऐसा मानते हैं कि सब कुछ मनमाना खा-पीकर अर्थात् असंयमित जीवन बितानेपर भी उनका शरीर ठीक कार्य करता है। कोई विशेष बाधा उत्पन्न नहीं होती; परंतु यह निश्चित मानना चाहिये कि यद्यपि भरपूर या प्रचुर जीवनी-शक्तिके कारण उसका तत्काल असर कम या बिलकुल दिखायी नहीं देता, तथापि उस असंयमका दुष्परिणाम शरीरपर अवश्य होता है। इसी कारण असंयमी लोगोंमें आलस्य, शरीरमें भारीपन, कभी-कभी जोड़ोंमें मीठी पीड़ा या सिरका भारीपन, क्रोध तथा लोभकी भावना भी रहती है। हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि शरीरका आलस्य या भारीपन, मामूली कब्ज——ये सब अवस्थाएँ भविष्यमें होनेवाले छोटे-बड़े रोगोंकी अत्यन्त अनुकूल भूमिकाएँ हैं। वास्तवमें ये रोगरूपी महावृक्षकी न दीख पड़नेवाली सूक्ष्म जड़ें हैं। इनको प्रारम्भमें काट देनेसे व्यक्तिका जीवन सदाके लिये स्वस्थ हो जाता है। शरीरकी थोड़ी-सी भी अस्वाभाविक अवस्थाको चला लेना या सहन करना रोगको आमन्त्रित करना है।

प्रायः हमलोग साधारण-सी शारीरिक अव्यवस्था या रुकावटकी चिन्ता नहीं करते और यह अनुभव नहीं करते कि तब हमारे आहार-विहारमें परिवर्तन करनेकी आवश्यकता है। इस प्रकार जबतक मल-संचय शरीरके मर्यादा-बिन्दुके अन्तर्गत रहता है, तबतक उसमें कोई कष्टदायक लक्षण प्रकट नहीं होते; परंतु हमारे अज्ञान या असावधानीके कारण जब शरीरमें अधिक मात्रामें मल संचित हो जाता है, तब शरीरको शुद्ध रखनेके लिये फेफड़े, त्वचा (चमड़ी), आँतें तथा गुर्दे अपनी पूरी शक्ति लगाकर प्रयास करते हैं और इस शुद्धि-प्रयासमें हमारे चार शुद्धि-मार्ग अपनी सामान्य प्रक्रियाओं-को त्यागकर नया ढंग अपनाते हैं, जिससे अतिरिक्त संचित मलका बोझ कम-से-कम समयमें हल्का हो जाय।

मेरे राम !

(श्रीमती अरुणाप्रसाद)

राम ! तुम मेरी कल्पना हो——
निराकार हो या साकार हो,
मेरे इष्ट या अवतार हो,
यहाँ वहाँ या सर्वत्र हो,
जो भी हो, जहाँ भी हो,
तुम मेरे ईश हो ॥

निराशामें आशा हो,
मन्दिरमें देवता हो,
विश्वासके आधार हो,
अन्धकारमें प्रकाश हो।
भक्तके आराध्य हो,
शब्दोंमें तुम मेरे राम हो ॥

पुत्र तुम दशरथके हो,
पति-परमेश्वर सीताके हो।
पितृ-तुल्य बन्धु तुम लक्ष्मणके हो
मेरे तो तुम राम आत्मा-परमात्मा हो॥

स्वर्गमें तुम विष्णु हो,
रणमें तुम क्षत्रिय हो।
केवटकी तुम प्रीति हो,
भीलनीके तुम भगवान् हो,
मेरे जीवनके तुम राम ! प्राण हो ॥

हनुमान्‌की तुम शक्ति हो,
भरतकी तुम भक्ति हो,
वाल्मीकिकी तुम कीर्ति हो,
तुलसीकी तुम रामायण हो,
मेरे तो तुम राम ! अन्तिम अवलम्ब हो ॥

राम ! तुम ही प्रकृति हो,
तुम ही सृष्टि हो,
मनुष्य हो या भगवान् हो,
दुखियोंकी पुकार हो,
या दुष्टोंका विनाश हो,
जो भी हो, तुम अद्वितीय हो।
मेरे तो राम-नाम-आधार हो ॥

पढ़ो, समझो और करो

(१)

विश्वास

बहुत समय-पूर्व व्यापार-कार्यसे इंग्लैंड तथा यूरोपके अन्य देशोंकी यात्रासे वापस आये अपने एक सम्बन्धीके द्वारा सुनायी गयी एक घटना प्रायः उन्हींके शब्दोंमें मैं यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ—

'इंग्लैंडमें मेरा दस दिनोंतक रुकनेका कार्य-क्रम था और व्यापारिक काम-काज समाप्त कर मुझे वहाँसे सीधे बम्बई आना था। एक दिन सायंकाल परिवारके निमित्त कुछ आवश्यक वस्तुएँ खरीदनेके लिये मैं डिपार्टमेंटल-स्टोर गया। वहाँ विविध प्रकारकी अनेक वस्तुएँ एवं एक अच्छा कैमरा भी लिया। कैमरा अधिक मूल्यका होनेके कारण मैंने उसे टेबुलपर न रखकर हाथमें ही ले लिया और फिर अनभिज्ञ-अवस्थामें अपने उस ओवरकोटकी जेबमें डाल लिया, जिसे मैं पहना था। सभी वस्तुएँ जैसे मैं पसंद करके लेता गया, बिल बनता गया। अन्तिम क्षण पैकिंग होते समय मैं अपने साथियोंसे बातें करनेमें लग गया। काउंटरकी महिला और कैशियर महिला आपसमें कुछ गुमशुम बातें कर रही थीं। मेरे सभी सामानोंके साथ कैमरा भी बाँधा गया। बिल चुकाकर मैं अपने निवासस्थानपर आया।

रात्रिमें भोजनके पश्चात् कुछ निकालनेके लिये जब मैंने ओवरकोटकी जेबमें हाथ डाला तब जैसे बिजलीका करेंट लगा हो, मैंने हाथ वापस खींच लिया। स्टोरमें जब मैं साथियोंसे बातें कर रहा था तब मूल कैमरा न मिलनेपर वैसा ही दूसरा कैमरा उन्होंने बाँध दिया था, यह स्मरण आया। अब क्या हो? स्टोर भी बंद हो गया होगा। रात्रि जैसे-तैसे व्यतीत की। प्रातः टैक्सी करके मैं स्टोरमें गया। काउंटरपर खड़ी महिला मुझे देखकर मुस्करायी। थोड़ी देरमें अपने स्थानपरसे उठकर कैशियर महिला भी आ गयी। मैंने ओवरकोटकी जेबसे कैमरा निकालकर मेजपर रखा और अपनी महान् भूलके लिये क्षमा-याचना की। मैंने कहा—'भूलसे ही यह कैमरा हाथमेंसे जेबमें रख लिया गया था, आपने चोरी गया समझकर दूसरा दे दिया था। मुझे दुःख है कि मैंने आपको कष्ट तथा अशान्तिमें डाल दिया! रात्रिमें हिसाब करते समय इस कैमरेके मूल्यका क्या होगा—ऐसी उथल-पुथल आपको अवश्य हुई होगी; परंतु इतनेपर भी इस समय यह कैमरा वापस मिलनेपर आपको प्रसन्नता हुई है, यह आपकी प्रसन्न मुखाकृतिसे मैं समझ सकता हूँ। मेरी भूलके लिये मुझे क्षमा कर दें।' दोनों एक-दूसरेकी ओर देखकर मुस्कराती रहीं।

कुछ देर पश्चात् कैशियर महिलाने कहा—'भले भाई! आपने बातों-ही-बातोंमें कैमरा ओवरकोटकी जेबमें डाला, यह इस काउंटरपर खड़ी महिलाने देख लिया था। जब पैकिंगके समय मैं कैमरा ढूँढ़ रही थी, आपको ध्यान होगा यह मुझे उधर एकान्तमें ले गयी थी। मुझे कानमें कहा भी था कि 'कैमरा कोटकी जेबमें है, निकलवाइये।' परंतु आप विचार करें कि यदि 'मैं अन्य ग्राहकों तथा अपने स्टाफकी उपस्थितिमें कितनी भी मधुर वाणी बोलकर कैमरा जेबमेंसे निकलवाती होती, तब भी आप कितना लज्जित होते। आपकी नीयत थोड़ी भी खराब नहीं थी, फिर भी सबके बीच आपको कितना संकोचमें पड़ना पड़ता। इसलिये मैंने इससे यही कहा कि भले वह कैमरा ग्राहककी जेबमें ही हो, तू वैसा ही दूसरा कैमरा मेरे नाम लिखकर ग्राहकके सामानमें बाँध दे। मुझे विश्वास है कि यह व्यक्ति दोनों कैमरा नहीं रखेगा और भूलका आभास होते ही वापस लौटानेकी तुरंत व्यवस्था करेगा। आप देखिये, रजिस्टरमें मेरे नाम लिखा कैमरा वह काट रही है।

उसकी बात सुनकर मैं दंग रह गया । अपनेको पता होनेपर भी मात्र ग्राहकको बुरा न लगे, उसे संकोचमें न पड़ना पड़े, इसीलिये इतने अधिक मूल्यकी क्षति उठानेवाली उस महिलाको मैं मन-ही-मन वन्दना करने लगा । —सुबोधचन्द कानजी ठक्कर

(२)

एक अपना अनुभव

एक बार मेरे पुत्रको अतिशय दस्त लगने लगे । पीले रंगके पानी-जैसे पतले दस्त होते । दिनमें लगभग चालीस-पचास बार दस्त होता और ज्वर १०१ से १०२ डिग्री दिन-रात रहता । उसकी आयु उस समय दो महीनेकी थी और वजन लगभग तीन किलोग्राम था ।

प्रारम्भमें चार दिन स्वयं ही अंग्रेजी दवा और इंजेक्शन दिया; परंतु कुछ अन्तर न पड़नेसे लेबोरेटरीमें बच्चेके मल तथा पेशावका परीक्षण कराया । वहाँसे नार्मल रिपोर्ट मिली । अपने डाक्टर मित्रों (जिनमेंसे बहुत-से अमेरिका जाकर आये थे) की सम्मति ली तथा उनके कथनानुसार दवा और इंजेक्शन देना प्रारम्भ किया । इसके पश्चात् अनारका रस, सफरजका रस तथा नीबूका पानी ग्लूकोजके साथ थोड़ा-थोड़ा हम बच्चेको देते थे । लगभग दस दिनतक यह सब करनेपर भी कोई लाभ नहीं हुआ । मैंने तथा मेरे मित्रोंने दस्त बंद करनेवाली प्रायः सभी दवाएँ धीरे-धीरे बच्चेको देकर देख ली, परंतु दस्त बंद नहीं हुए । इससे मैं बहुत निराश हो गया ।

दसवें दिन मैं बच्चेकी गम्भीर बीमारीके विषयमें पड़ा-पड़ा बहुत चिन्ता कर रहा था कि अचानक मनमें विचार आया कि मैंने डाक्टरीके साथ-साथ आयुर्वेदका भी अध्ययन किया है, तो क्यों न अब आयुर्वेदका ही सहारा लूँ । आयुर्वेदिक दवाओंकी बहुत प्रशंसा अध्ययन-कालमें वैद्योंसे सुनी थी, अतः आयुर्वेदिक पुस्तकोंमेंसे कोई अच्छी चिकित्सा मिल जाय तो बच्चेको नवजीवन प्राप्त हो—ऐसा विचार कर आलमारीमें एक-एक करके सब पुस्तकें देखता गया । शार्ङ्गधरसंहितामें लिखित कृष्णादि चूर्णपर मेरी दृष्टि गयी । उसकी विधि इस प्रकार लिखी थी—पिप्पली (छोटी पीपल), अतिविष, नागरमोथा और काकड़ासिंगी बराबर मात्रामें लेकर चूर्ण तैयार करके शहदके साथ देनेसे ज्वर, अतिसार (दस्त), खाँसी तथा वमन (उल्टी) आदि रोग दूर होते हैं ।

दूसरे दिन पंसारीके यहाँसे उपर्युक्त सब वस्तुएँ लाकर चूर्ण तैयार किया और शहदके साथ थोड़ा-थोड़ा दिनमें तीन बार बच्चेको देना प्रारम्भ किया । चार दिनमें ही आठ आने अन्तर पड़ गया तथा सात दिनमें बिल्कुल आराम हो गया । बहुत व्यय-साध्य अंग्रेजी दवाओंके देनेपर भी बच्चेको कुछ लाभ नहीं हुआ था, जब कि आयुर्वेदिक बहुत सस्ती दवा देनेसे ही शीघ्र लाभ हो गया । शार्ङ्गधरसंहिताके सृजनकर्ता शार्ङ्गधर मुनिको मैंने हर्षाश्रुओंके सहित मन-ही-मन हजारों बार वन्दन किया ।

तत्पश्चात् मैंने इस दवाका प्रयोग दस्तोंसे पीड़ित बहुतसे छोटे बच्चोंपर किया तो प्रत्येक बालकको इससे आराम मिला । इस दवाका प्रचलित नाम 'बालचातुर्भद्र' है । वर्षाऋतुमें बच्चोंको दस्त तथा ज्वरादि अधिकांश होते हैं, अतः अधिक व्यय-साध्य अंग्रेजी दवाएँ करनेकी अपेक्षा यह बहुत सस्ती चिकित्सा सबके लिये उपयोगी हो सके, ऐसा विचार कर अपना स्वयंका अनुभव लिख रहा हूँ ।' —डॉ० अश्विनी सी० पटेल

(३)

वैधव्य सफल हुआ

चन्द्रकी शुभ्र ज्योत्स्ना-जैसे श्वेत वस्त्र पहने, मुँहपर और नेत्रोंमें ऐसी ही शीतलता [illegible] एक विधवा बहन एक संतको दोनों हाथ जोड़े नमन कर रही थी ।

साथमें आया हुआ एक व्यक्ति विनम्र-भावसे कह रहा था—'बापू ! पुत्रीको आशीर्वाद दें, इसका कल्याण हो।'

'सबका कल्याण करनेवाले तो परमात्मा हैं भाई ! परंतु यह बच्ची तो योगमायाका स्वरूप है। यह तो दूसरोंका भी कल्याण कर सकती है।'—संतने कहा।

'बापू ! पुत्री विधवा हो गयी है'—व्यक्तिने संकेत किया।

'यह तो इसे देखनेसे ही जान लिया है'—संतने कह दिया।

'अब यह अपना शेष जीवन भगवद्भजनमें व्यतीत करना चाहती है और गैरिक वस्त्र पहनना चाहती है। इसके लिये यह आपका आशीर्वाद लेने आयी है।' —व्यक्तिने प्रार्थना की।

एक क्षण नेत्र बंद करके पुनः खोलते हुए संतने कहा—'भाई ! विचार और मार्ग तो उत्तम है, परंतु········।'

'परंतु क्या बापू ?'—व्यक्तिने प्रश्न किया।

'मेरी एक बात मानोगे ?'—संतने पूछा।

'आप तो धर्मपुरुष हैं। कच्छ-राज्यमें आपकी धर्म-परायणता वन्दनीय है। आपकी बात क्यों नहीं मानेंगे'—व्यक्तिने कहा।

'अच्छा, तो यदि यह बहन भक्तिके साथ गीता-कथित 'कर्मयोग'का भी आचरण करे तो कई गुनी भक्ति हो सकती है। स्वयंके साथ वह अन्य जीवोंका भी कल्याण करके भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त कर सकती है'—संतने बतलाया।

'किस प्रकार महाराज ?'—व्यक्तिने पूछा।

'किसी एक स्थानपर बैठकर भगवद्भजन करनेकी अपेक्षा यह बहन समाजसेवा—लोककल्याणमें जीवन लगाये। पुरुषोंकी अपेक्षा बहनें सेवाके क्षेत्रमें सुन्दर काम कर सकती हैं और यह तो कच्छकी रहनेवाली है'—संतने कहा।

'आपका इसके लिये आशीर्वाद है ?'—व्यक्तिने जिज्ञासाकी दृष्टिसे पूछा।

'हाँ, मेरी और जगत्पिता ईश्वरकी भी। ईश्वरसृष्ट मानवोंकी सेवामें ईश्वरके अनन्त आशीर्वाद हैं'—संतने समझाया।

"आपकी आज्ञा मैं सिरपर चढ़ाकर स्वीकार करती हूँ बापू ! आजसे मैं अपने जीवनका प्रतिक्षण जनसेवामें खर्च करूँगी। 'विधवाएँ समाजकी भार-रूप बनती हैं, इस मान्यताको कम करूँगी,' आशीर्वाद प्रदान करें"—विधवा बहनने कहा।

पुनः उस विधवा बहनने दोनों हाथ जोड़कर उन महापुरुषको वन्दन किया। 'इसके लिये मेरा आशीर्वाद है बेटी !' हाथ उठाकर महापुरुषने आशीर्वाद दिया।

कच्छके नखत्राणा तहसीलके 'मंजल' नामक गाँवमें दलालीका काम करनेवाले इस बालजी भाईकी एक पुत्री 'रुक्मिणी' विधवा हो गयी थी। विधवापनमें पुत्रीका जीवन शान्तिपूर्वक व्यतीत हो ऐसा मार्गदर्शन तथा आशीर्वाद लेने वह पुत्रीको लेकर गाँवके समीप ही रहनेवाले इन महापुरुषके पास आया था। तब इन महापुरुषने वैधव्यको विधाताका विधान समझकर निष्काम कर्मयोगद्वारा जीवन व्यतीत करनेका आदेश दिया था।

कच्छमें संवत् १९३६ के आस-पास लड़कियोंको पढ़ानेका कुछ भी साधन नहीं था। पिता पुत्रीको लेकर बम्बई आया। रुक्मिणीने अविश्रान्त पढ़नेमें मन लगाया। वहाँसे वह कच्छ आयी और उसने संस्कृत भाषाका अध्ययन किया।

तत्पश्चात् तीस वर्षकी आयुमें रुक्मिणीने एक आश्रमकी स्थापना की; जिसमें निवृत्ति-परायण जीवन व्यतीत करनेवाली बहनोंको भरती करनेकी विज्ञप्ति दी गयी। इस आश्रमके सभी नियम शास्त्रसम्मत थे। ब्रह्मचर्यकी ही शिक्षा दी जाती थी।

इसके पश्चात् रुक्मिणीने समाज-कल्याणकी ओर ध्यान दिया। मंजल गाँवमें उसने कन्याओंको शिक्षा देना प्रारम्भ किया। तदनन्तर कच्छके श्रीमन्तोंकी सहायतासे भगवच्चर्चा-श्रवण, धर्म-ध्यान करनेकी इच्छा रखनेवालों तथा शान्तिपूर्वक ईश्वर-चिन्तन करनेवालोंके लिये एक 'सत्संग-भवन'का निर्माण कराया गया। वहाँ सदैव गीता-रामायण, उपनिषदादि धार्मिक ग्रन्थोंपर प्रवचन होते रहते।

तत्पश्चात् संवत् १९८२ में विधवा-आश्रमकी स्थापना हुई। जिसमें विधवा बहनें स्वाश्रयी जीवन व्यतीत कर सकें, इसके लिये सिलाई-बुनाई, कढ़ाई आदिके प्रशिक्षणके साथ प्रभु-परायण जीवन व्यतीत करनेकी शिक्षा दी जाती थी।

संवत् १९७४ में देशमें जब चारों ओर ईन्फ्लुएन्जाका भयंकर रोग फैला हुआ था तब रुक्मिणीने अपने आश्रममें दवाएँ तैयार कराकर दूर-दूरके गाँवोंतक पहुँचायी थीं। समीपके गाँवोंको वे स्वयं देखने जाती थीं।

जनताने उनकी उत्कट सेवा-परायणता देखकर उन्हें 'साध्वी मैया'की पदवी दी थी। इस प्रकार सम्पूर्ण जीवन, गीताके 'निष्काम-कर्मयोग'के अनुरूप व्यतीतकर, धर्मपरायणा रहकर, कर्मयोगकी तेजस्वी आभा कच्छकी धरतीपर प्रसारितकर संवत् २००९ की पौष वदी अमावस्याके दिन वे इस लोकसे विदा हो गयीं। —अखण्ड-आनन्द

(४)

मानवताकी सुगन्ध

बड़ौदामें सन् १९५७ ई०की ग्रीष्म ऋतुका प्रचण्ड ताण्डव अग्निकी वर्षा कर रहा था। तब मैं नौकरीसे पूर्वकी एक ट्रेनिंगमें वहाँ गया था। कन्ट्राक्टर ट्रेनिंग सेण्टरका मेस चलाता था। मैं वहाँ सत्त्वहीन-रूखा भोजन करके बीमार पड़ गया। डाक्टरकी दवा की, परंतु रोग काबूमें नहीं आया। डाक्टरने मात्र दही-छाछ जीरेके साथ लेनेको पथ्यमें बताया था। बड़ौदामें कोई मेरा सगा-सम्बन्धी न था। जहाँ समयानुसार कार्डपर दूध मिलता हो, वहाँ दही-छाछ कहाँसे लाया जाय? सायंकाल साधना-सोसायटीके समीप एक घरके बाहर तीन भैंसें बँधी हुई दिखायी दीं। वहाँ कदाचित् दही-छाछ मिल जाय—इस आशासे मैं वहाँ गया। घरमें एक वृद्धा माँ बैठी थीं। मैंने दही-छाछके विषयमें पूछा तो उत्तर मिला कि दूध बेचती हूँ, दही-छाछ नहीं बेचती।

मैंने अपनी बीमारी तथा डाक्टरकी सलाहकी बात कही तो उन माँजीने कहा—'बेटा! तेरे लिये मैं दही-छाछ अवश्य दे दूँगी।' एक सप्ताहतक माँजी दिनमें दो बार जीरेका छौंक देकर दही-छाछ मेरे डेरेपर ही पहुँचा जातीं। शरीर स्वस्थ हो गया। डाक्टरने आहार लेनेको कह दिया, तब मैंने माँजीके घर जाकर दही-छाछके मूल्यका हिसाब करके पैसे देनेकी बात कही। उस समय माँजीने कहा—'हिसाब अभी नहीं करना है। अभी एक सप्ताह दही-छाछ भोजनके साथ लेना चालू रख।' इस प्रकार दूसरा सप्ताह भी पूरा हो गया। माँजीके साथ आत्मीयता बँध गयी थी। जहाँ मेरा कोई न था, वहाँ वृद्ध माँजी बिना परिचयके ही मुझे दही-छाछ पहुँचाती थीं। अब स्वास्थ्य बराबर ठीक हो गया था। मैंने पुनः माँजीसे दही-छाछके मूल्य लेनेके विषयमें चर्चा चलायी तो माँजी मेरे सिरपर हाथ फेरती हुई बोलीं—'बेटा! तू ठीक हो गया, यही मेरे लिये लाख रुपयेके बराबर है।' वृद्धा माँजीके निःस्वार्थ स्नेहमें मुझे जगज्जननीके दर्शन हुए। इस प्रकार एक अपरिचित शहरमें एक वृद्धा माँजीने मेरे जीवनमें मानवताकी सुगन्ध भर दी। —के० एम्० जोशी

मनन करने योग्य

(१)

सहनशक्तिसे सासका स्वभाव बदला

एक युवती नव-वधू बनकर ससुरालमें आयी। उसे जो सास मिली, वह मानो दुर्वासाजीका अवतार थी। वह दिनमें दो-तीन बार जबतक किसीसे लड़-झगड़ न लेती, तबतक उसे भोजन नहीं पचता था। बहू आयी तो उसने सोचा—'अब घरमें ही लड़ लें। बाहर लड़नेके लिये काहेको जायँ?' बस, वह अब बहूको बात-बातपर ताना मारने लगी—'तेरे बापने तुझे क्या सिखाया है? तेरी माँने तुझे क्या यही शिक्षा दी है? तेरी-जैसी मूर्खा तो मैंने कभी देखी ही नहीं।'

बहू यह सब कुछ सुनती और सुनकर मौन हो जाती। सास चिल्लाकर कहती—'अरी! तेरे मुखमें क्या जीभ ही नहीं है?' बहू फिर भी शान्त बनी रहती। उसके मौनको देखकर सासका जिह्वारूपी घोड़ा क्रोधकी सड़क-पर द्रुत-गतिसे दौड़ने लगता। प्रतिदिन ऐसा ही होता। पास-पड़ोसके सभी लोग इस व्यापारको देखते और मन-ही-मन सोचते कि यह सास है या राक्षसी?

एक दिन वह इसी प्रकार बहूपर बरस रही थी, पर बहू मौन थी। सास कह रही थी—'अरी! पृथिवी-पर लात मारे तो उससे भी शब्द निकलता है और मैं इतना बोल रही हूँ, फिर भी तू चुप है। तू तो मिट्टीसे भी गयी-बीती है।'

तभी एक पड़ोसिनने कहा—'बुढ़िया! यदि तेरी लड़नेकी बहुत इच्छा है तो आकर मुझसे लड़। तेरा चस्का पूरा हो जायगा। इस बेचारी गायके पीछे क्यों पड़ रही है, जो तुम्हारी गालियोंका उत्तर भी नहीं देती!'

बहूने तुरंत उठकर प्रेमपूर्वक कहा—'नहीं, आप ऐसा न कहें। ये मेरी माँ हैं। माँ ही बेटीको न समझायेगी तो फिर दूसरा कौन समझायेगा!'

सासने जब यह बात सुनी, तब वह लज्जित हो गयी। उसे अपने स्वभावपर ग्लानि होने लगी। फिर कभी उसने क्रोध नहीं किया। बहूकी सहनशक्तिने सासका स्वभाव बदल दिया।

(२)

नम्र बनो, कठोर नहीं!

एक चीनी संत बहुत बूढ़े हो गये थे। जब उन्होंने देखा कि अन्तिम समय निकट आ गया है, तब अपने सभी भक्तों और शिष्योंको अपने पास बुलाया और प्रत्येकसे कहा—'तनिक मेरे मुँहके अंदर तो देखो भाई! कितने दाँत शेष हैं?'

प्रत्येक शिष्यने मुँहके भीतर देखा। प्रत्येकने कहा—'दाँत तो कई वर्षपूर्व समाप्त हो चुके हैं महाराज! एक भी दाँत नहीं है।'

संतने कहा—'जिह्वा तो विद्यमान है?'

सबने कहा—'जी हाँ।'

संत बोले—'यह बात कैसे हुई? जिह्वा तो जन्मके समय भी विद्यमान थी। दाँत उससे बहुत पीछे आये। पीछे आनेवालेको पीछे जाना चाहिये था। ये दाँत पहले कैसे चले गये?'

शिष्योंने कहा—'हम तो इसका कारण नहीं समझ पाते महाराज!'

तब संतने धीमी आवाजमें कहा—'यही बतलानेके लिये तो मैंने तुम्हें बुलाया है। देखो, यह जिह्वा अबतक इसलिये विद्यमान है कि इसमें कठोरता नहीं है और ये दाँत पीछे आकर पहले इसलिये समाप्त हो गये कि ये बहुत कठोर थे। इन्हें अपनी कठोरतापर अभिमान था। यह कठोरता ही इनकी समाप्तिका कारण बनी। इसलिये मेरे बच्चो! यदि अधिक समयतक जीना चाहते हो तो नम्र बनो, कठोर नहीं!'

(३)

मिलकर रहिये, बाँटकर खाइये

एक शिष्यने अपने गुरुसे पूछा—'महाराज ! संसारमें रहनेका क्या ढंग है ?'

गुरुने कहा—'अच्छा प्रश्न किया है तूने। एक-दो दिनमें इसका उत्तर देंगे।'

दूसरे दिन गुरुजीके पास एक व्यक्ति कुछ फल और मिठाइयाँ लेकर आया। सब वस्तुएँ महात्माजीके सामने रखकर उन्हें प्रणाम किया और उनके पास बैठ गया। महात्माजीने उस व्यक्तिसे बात भी नहीं की; अपितु पीठ मोड़ी और सब-के-सब फल खा लिये। मिठाई भी खा ली। वह व्यक्ति सोचता रहा—'यह विचित्र साधु है। वस्तुएँ तो सब खा गया, परंतु मैं जो सब कुछ लाया हूँ, मेरी ओर देखता भी नहीं।'

अन्तमें वह क्रुद्ध होकर उठा और चला गया। उसके जानेके पश्चात् महात्माने शिष्यसे पूछा—'क्यों भाई ! वह व्यक्ति क्या कहता था ?'

शिष्यने कहा—'महाराज ! वह तो बहुत क्रुद्ध था और कहता था कि मेरी वस्तुएँ तो खा लीं, किंतु मुझसे बोले भी नहीं।'

महात्मा बोले—'तो सुन। संसारमें रहनेका यह ढंग नहीं। कोई दूसरा ढंग सोचना चाहिये।'

थोड़ी देर पश्चात् एक दूसरा व्यक्ति आया। वह भी फल और मिठाइयाँ ले आया और उन्हें साधुके सामने रखकर बैठ गया। साधुने फल और मिठाइयोंको उठाकर पासवाली गलीमें फेंक दिया तथा वे उस व्यक्तिसे बड़े प्यार और सम्मानके साथ बातें करने लगे—'कहो जी, क्या हाल है ? परिवार तो अच्छा है ? कारोबार तो अच्छा है ? बच्चे ठीक हैं ? पढ़ते हैं न ? बहुत अच्छा करते हो, उन्हें खूब पढ़ाओ। तुम्हारा अपना शरीर तो ठीक है ? मन तो प्रसन्न रहता है ? भगवान्‌का भजन तो करते हो ? शरीर अच्छा हो, चित्त प्रसन्न हो और प्रभु-भजनमें मन लगे तो फिर मनुष्यको चाहिये ही क्या ?'

वे इस प्रकारकी मीठी-मीठी बातें करते रहे और वह व्यक्ति मन-ही-मन कुढ़ता रहा—'यह विचित्र साधु है ! मुझसे तो मीठी बातें करता है और मेरी वस्तुओंका इसने अपमान कर दिया। उन्हें इस प्रकार फेंक दिया, जैसे उनमें विष पड़ा हो।'

जब वह भी चला गया तब महात्माने शिष्यसे पूछा—'क्यों भाई ! यह तो प्रसन्न हो गया होगा ?'

शिष्यने कहा—'नहीं महाराज ! यह तो पहलेसे भी क्रुद्ध था और कहता था कि मेरी वस्तुओंका अपमान कर दिया।'

महात्मा बोले—'तो सुन भाई ! संसारमें रहनेका यह भी ढंग ठीक नहीं। अब कोई और विधि सोचनी होगी।'

तभी एक व्यक्ति वहाँ आया। वह भी फल और मिठाई लाया था। वह उन्हें साधुके समक्ष रखकर बैठ गया। साधुने बड़े प्यारसे उसके साथ बात की; फिर उन वस्तुओंको आस-पास बैठे लोगोंमें बाँट दिया। कुछ मिठाई उस व्यक्तिको भी दी, कुछ स्वयं भी खायी। वे उसके घर-बार और परिवारकी बातें करते रहे। उसे सुन्दर कथाएँ सुनाते रहे। जब वह भी चला गया, तब महात्माने पूछा—'क्यों भाई ! यह व्यक्ति क्या कहता था ?'

शिष्यने कहा—'वह तो बहुत प्रसन्न था महाराज ! आपकी बहुत प्रशंसा करता था। कहता था—ऐसे साधुसे मिलकर चित्त प्रसन्न हो गया।'

महात्मा बोले—'तो सुन बेटा ! संसारमें रहनेका ढंग यही है।'

संसारमें रहनेका ठीक ढंग यह है कि प्रभुने जो कुछ दिया है, उसे बाँटकर खाओ, त्याग-भावसे भोगो और इसके साथ-ही-साथ भगवान्‌से प्रेम भी करो। उसके नामका जप करो। उसका ध्यान करो। फलादि लानेवालेसे बातें करो। —वल्लभदास बिन्नानी 'व्रजेश'

अमृत-बिन्दु

संसारके सम्बन्ध-विच्छेदसे जो सुख मिलता है, वह संसारके सम्बन्धसे कभी मिल सकता ही नहीं ।

× × ×

एकान्तका सुख लेना, मन लगनेका सुख लेना भोग है, योग नहीं ।

× × ×

मुक्तिकी इच्छा रहनेसे शरीरके रहनेकी इच्छा नहीं होती; यदि होती है तो मुक्तिकी इच्छा है ही नहीं ।

× × ×

संयोगजन्य सुखकी लोलुपता ही पारमार्थिक उन्नतिमें मुख्य बाधक है ।

× × ×

जिस दिन सांसारिक रुचि मिटेगी, उसी दिन पारमार्थिक रुचि पूरी हो जायगी ।

× × ×

जो किसी समय है और किसी समय नहीं है, कहीं है और कहीं नहीं है, किसीमें है और किसीमें नहीं है, किसीका है और किसीका नहीं है, वह वास्तवमें है ही नहीं ।

× × ×

भक्त भगवान्‌को जिस रूपमें देखना चाहता है, भगवान् उसके भावके अनुसार वैसा ही बन जाते हैं ।

× × ×

मनुष्यको आसक्ति और अहंकार——इन दो बातोंका त्याग करना चाहिये, धैर्य और उत्साह——इन दो बातोंको धारण करना चाहिये तथा सिद्धि और असिद्धि——इन दो बातोंमें निर्विकार रहना चाहिये ।

× × ×

साधकका जिस-किसी वस्तु, व्यक्ति आदिमें खिंचाव हो, उसमें वह भगवान्‌का ही चिन्तन करे ।

× × ×

सब जगह समरूप परमात्माको देखना समदृष्टि है और प्रकृति तथा उसके कार्य (शरीर, संसार) को देखना विषमदृष्टि है ।

× × ×

जीवमात्र साक्षात् परमात्माका अंश है । अतः जबतक यह जीव अपने अंशी परमात्माका आश्रय नहीं लेगा, तबतक यह दूसरोंका आश्रय लेकर पराधीन होता ही रहेगा, दुःख पाता ही रहेगा ।

× × ×

साधकमें साधन और सिद्धिके विषयमें चिन्ता तो नहीं होनी चाहिये, पर भगवत्प्राप्तिके लिये व्याकुलता अवश्य होनी चाहिये । कारण कि चिन्ता भगवान्‌से दूर करनेवाली है और व्याकुलता भगवान्‌की प्राप्ति करानेवाली है ।

× × ×

निष्कामभावपूर्वक कर्म करनेसे मुक्ति होती है और सकामभावपूर्वक कर्म करनेसे बन्धन होता है; अतः मनुष्यको निष्कामभावपूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये ।

× × ×

सारे संसारके मालिक भगवान् ही हैं; अतः मनुष्य अपनेको किसी भी वस्तु, व्यक्ति आदिका मालिक न माने, प्रत्युत भगवान्‌को ही माने ।

× × ×

मनुष्यको अपना संकल्प नहीं रखना चाहिये, प्रत्युत भगवान्‌के संकल्पमें अपना संकल्प मिला देना चाहिये अर्थात् भगवान्‌के विधानमें परम प्रसन्न रहना चाहिये ।

× × ×

भगवान् क्रियाग्राही नहीं हैं, प्रत्युत भावग्राही हैं—**'भावग्राही जनार्दनः'** । अतः भगवान् भाव (अनन्यभक्ति)-से ही दर्शन देते हैं, क्रियासे नहीं ।

× × ×

शरीरको 'मैं' और 'मेरा' मानना ही सम्पूर्ण दुःखोंका कारण है ।

सम्मान्य ग्राहकों एवं प्रेमी पाठकोंसे नम्र निवेदन

(१) 'कल्याण'के ६१वें वर्षका यह ९वाँ अङ्क आपकी सेवामें प्रस्तुत है । आगे १०वें, ११वें एवं १२वें अङ्कोंके प्रकाशित हो जानेके पश्चात् यह वर्ष पूरा हो जायगा । आगामी ६२वें वर्षके विशेषाङ्क (जनवरी १९८८ के प्रथम अङ्क) के रूपमें 'शिक्षाङ्क' प्रकाशित करनेका निश्चय हुआ है । किसी भी राष्ट्र, देश, समाज और व्यक्तिका निर्माण मुख्यतया उसकी सुशिक्षापर ही निर्भर करता है तथा इसके बिना वह प्रगतिके पथपर आगे नहीं बढ़ता । इसीलिये स्वतन्त्रता-प्राप्तिके बादसे भारतमें आजतक शिक्षाके क्षेत्रमें विभिन्न प्रयोग होते रहे हैं । आज भी हमारी सरकार नयी शिक्षा-नीतिपर विचार कर रही है और इसका क्रियान्वयन करना चाहती है । भारतमें शिक्षा कैसी हो ? क्या हो ? कैसे दी जाय ? इन बातोंपर शिक्षाविद् विचार कर रहे हैं । इस अवसरपर 'कल्याण'ने अपने अग्रिम विशेषाङ्कके रूपमें 'शिक्षाङ्क' प्रकाशित करनेका निर्णय लिया है, जिसमें अनादिकालसे प्रचलित भारतकी विभिन्न शिक्षाओंका ऐतिहासिक दिग्दर्शन, गुरु-शिष्यकी परम्परा, महान् शिक्षाविद् और महापुरुषोंका चरित्रावलोकन, सामाजिक और पारिवारिक जीवनमें परस्पर सद्भावपूर्ण व्यवहार तथा कर्तव्यपालनकी पौराणिक एवं वैदिक कथाओंका संकलन, वर्तमान समयमें शिक्षाके वास्तविक स्वरूपका निर्धारण आदि विषयोंको सरल और सुगम-रूपसे प्रस्तुत करनेका विचार है । वस्तुतः यह अङ्क बालकों, छात्रों, अध्यापकों और सभी श्रेणीके विद्यालयोंके लिये तो परम उपयोगी होगा ही, गाँवों और नगरोंमें रहनेवाले सद्गृहस्थोंके लिये भी यह विशेष महत्त्वका सिद्ध होगा । यह विशेषाङ्क एक प्रकारसे सभी ज्ञान-विज्ञान, विद्या-कला आदिका विश्वकोश होगा ।

(२) पिछले कुछ वर्षोंसे 'कल्याण'का वार्षिक शुल्क ३०.०० (तीस रुपये) निर्धारित है । यद्यपि निरन्तर बढ़ती हुई महँगाईके कारण कागज, स्याही, छपाई तथा वेतन आदिमें लगातार वृद्धि होती जा रही है, जिसके फलस्वरूप 'कल्याण'का लागत व्यय वर्तमान समयमें काफी बढ़ गया है । गत दिनों 'कल्याण'ने विशेषाङ्कके रूपमें 'शक्ति-उपासना-अङ्क' प्रकाशित किया था, जिसमें पृष्ठ-संख्या तथा चित्र अन्य वर्षोंकी अपेक्षा अधिक दिये गये थे, फलतः लागत व्ययमें और वृद्धि हुई । संयोगवश 'कल्याण'के डिस्पैचके पूर्व भारत-सरकारद्वारा रजिस्ट्री और पोस्टेज शुल्कमें भी विशेष वृद्धि कर दी गयी, जिससे अतिरिक्त पोस्टेज खर्च भी अचानक काफी बढ़ गया । यद्यपि एक साथ इतना घाटा संस्थाके लिये सहन करना सम्भव नहीं प्रतीत होता था, तथापि 'कल्याण'की नीतियोंके अनुसार हमने अपने सम्मान्य ग्राहकोंको कष्ट देना उचित नहीं समझा । पुराने शुल्कमें ही अङ्क भेजे गये । कुछ अङ्क रजिस्ट्रीकी अपेक्षा रिकार्डेड डिलेवरीसे भेजे गये, जिससे कुछके न पहुँचनेकी शिकायत भी आयी । अब आगे 'विशेषाङ्क' रजिस्टर्ड पोस्टसे ही भेजनेका निर्णय किया गया है जिससे 'कल्याण' सबको सुरक्षित प्राप्त हो जाय ।

'कल्याण'के ग्राहक इधर लगातार बढ़ रहे हैं । इस वर्ष लगभग पचीस हजार ग्राहकोंकी वृद्धि हुई है तथा हम भी 'कल्याण'का प्रकाशन-वितरण अधिक संख्यामें करना चाहते हैं, जिससे अधिकाधिक लोग लाभान्वित-शिक्षित हो सकें । छपाई आदिकी भी आधुनिकतम (टेक्नोलोजी) प्रक्रिया अपनायी जा रही है । आफसेट प्रिंटिंग तथा फोटो कम्पोज आदिकी नयी मशीनें लगायी गयी हैं । इन नयी मशीनोंके अनुसार 'कल्याण'की साइजमें परिवर्तन करना आवश्यक हो गया है । अबतक 'कल्याण' [illegible] साइजमें छपता रहा है, [illegible] वर्षसे यह [illegible] की साइजमें छपेगा । इस प्रकार सामग्री भी हम अपने पाठकोंके लिये पहलेसे कुछ अधिक दे सकेंगे । साथ ही

कागज और छपाई आदिके स्तरमें भी पर्याप्त सुधार हो सकेगा। 'कल्याण'का वार्षिक लागत व्यय लगभग ४५.०० (पैंतालीस रुपये) प्रति कल्याण आता है। यद्यपि यह घाटा संस्थाके लिये सहन करना सम्भव नहीं है, फिर भी 'कल्याण'के शुल्कमें हम वृद्धि करना नहीं चाहते। अतः मूलतः 'कल्याण'का वार्षिक शुल्क ३०.०० (तीस रुपये) रखनेका ही निर्णय लिया गया है। परंतु वर्तमान परिस्थितिमें न चाहते हुए भी ८.०० (आठ रुपये) पोस्टेज खर्च अतिरिक्त लेनेका निश्चय किया गया है। वर्तमानमें रजिस्ट्री तथा डाक-व्यय ८.३० (आठ रुपये तीस पैसे) होता है। अतः अब आगामी वर्ष (जनवरी १९८८) से 'कल्याण'का वार्षिक शुल्क ३०.०० (तीस रुपये) के अतिरिक्त ८.०० (आठ रुपये) डाक-व्ययसहित ३८.०० (अड़तीस रुपये) लेनेका निश्चय किया गया है। गीताप्रेसकी अधिकृत दूकानों (दिल्ली, कानपुर, लखनऊ, वाराणसी, इलाहाबाद, गोरखपुर, पटना, कलकत्ता, जयपुर, बीकानेर, बम्बई, हरद्वार, गीताभवन स्वर्गाश्रम) तथा अन्य स्थानीय विक्रेताओंसे 'कल्याण' मात्र ३३.०० (तैंतीस रुपये) वार्षिक शुल्कमें प्राप्त किया जा सकता है। अब विदेशके लिये वार्षिक शुल्क ६ पौंड अथवा ९ डालर हैं।

नयी व्यवस्थाके अन्तर्गत डाक-व्यय ८.०० (आठ रुपये) अतिरिक्त लेनेपर भी 'कल्याण'में प्रतिग्राहक ७.०० (सात रुपये) घाटा रहता है, जो दो लाख ग्राहकोंकी स्थितिमें लगभग चौदह लाखका वार्षिक घाटा केवल 'कल्याण'में होता है। भगवत्कृपा और आपकी शुभ भावनाओंके आधारपर यह घाटा वहन करनेका प्रयास हम अवश्य करेंगे।

आशा है 'कल्याण'-प्रेमी सभी महानुभाव हमारी परिस्थितिजन्य विवशताको ध्यानमें रखते हुए इसे कृपापूर्वक सहर्ष स्वीकार करेंगे।

(३) ग्राहकोंकी सुविधाके लिये मनीआर्डर-फार्म इस अङ्कमें संलग्न है। अतः सभी ग्राहक सज्जन मनीआर्डर भेजते समय मनीआर्डर-कूपनपर अपना पूरा पता—नाम, ग्राम, मुहल्ला, डाकघर, जिला, प्रदेश आदि सुस्पष्ट और सुवाच्य बड़े अक्षरोंमें लिखनेकी कृपा करें। पुराने ग्राहक हों तो अपनी शुद्ध ग्राहक-संख्या एवं नये ग्राहक हों तो 'नया ग्राहक' अवश्य लिखें। ऐसा करनेसे ग्राहक सज्जनोंको अङ्कोंका प्रेषण सही, शीघ्र, सुगम और सुरक्षित होगा। मनीआर्डर-कूपनपर ग्राहक-संख्या अङ्कित होने अथवा 'पुराना' या 'नया ग्राहक' न लिखनेकी दशामें आपकी सेवामें पुरानी ग्राहक-संख्यासे वी० पी० पी० और नवीन ग्राहक-संख्यासे रजिस्ट्री चली जायगी, जिससे हमारे प्रिय ग्राहक सज्जनों तथा कार्यालय—दोनोंको अतिरिक्त खर्च तथा व्यर्थ समय नष्ट होनेसे असुविधा होगी, अतः अपने तथा 'कल्याण'-व्यवस्थाके सुविधार्थ (व्यर्थ-खर्च तथा समयकी बचतके लिये) मनीआर्डर-कूपनपर अपनी ग्राहक-संख्या कृपया अवश्य लिखें।

(४) गत वर्षकी भाँति विशेषाङ्क बननेपर ही ग्राहक महानुभावोंकी सेवामें ४२.०० (बयालीस रुपये) की वी० पी० पी० द्वारा भेजे जा सकेंगे, किंतु जिन सज्जनोंसे मनीआर्डरद्वारा अग्रिम शुल्क-राशि ३८.०० (अड़तीस रुपये) प्राप्त हो जायगी, उन्हें विशेषाङ्क रजिस्ट्रीद्वारा भेजा जायगा। अतः ४.०० (चार रुपये) के अतिरिक्त भारसे बचनेके लिये सभी प्रेमी ग्राहकोंसे अनुरोध है कि वे वी० पी० पी०की प्रतीक्षामें न रहकर अपनी वार्षिक शुल्क-राशि ३८.०० (अड़तीस रुपये) मात्र मनीआर्डरद्वारा अग्रिम ही भेजें। ऐसा करनेसे वे अपना विशेषाङ्क शीघ्र सुरक्षित प्राप्त कर सकेंगे।

(५) आगामी वर्षका विशेषाङ्क '[illegible]' समयपर प्रकाशित हो, एतदर्थ हम सप्रयत्न भरसक सचेष्ट हैं। जिन पुराने ग्राहक महोदयोंको किसी कारणवश ग्राहक न रहना हो, वे कृपापूर्वक पोस्टकार्ड लिखकर कार्यालयको सूचना अवश्य दे दें, जिससे उनकी ग्राहक-संख्या निरस्त की जा सके और वी० पी० पी० भेजनेकी सम्भाव्य स्थितिमें 'कल्याण'को डाक-खर्चकी व्यर्थ हानि न उठानी पड़े।

(६) कोई भी स्थानीय पुस्तक-विक्रेता अथवा किसी स्थानीय व्यक्तिको विशेषाङ्ककी ५० प्रतियाँ या अधिक एक साथ मँगानेपर २३.०० (तेईस रुपये) प्रति 'कल्याण' वार्षिक शुल्क-दरसे शुल्क-राशि दी जायगी तथा उन्हें १५ प्रतिशत कमीशन भी 'कल्याण'के वास्तविक मूल्य-दर ३०.०० (तीस रुपये)पर ही दिया जायगा। [illegible]सहित उन्हें २३.०० (तेईस रुपये) वार्षिक शुल्क लेकर ग्राहक बनाना चाहिये। —व्यवस्थापक 'कल्याण'

सम्पूर्ण सटीक महाभारतका पुनर्मुद्रण

भारतीय ऐतिहासिक-वाङ्मयका अमूल्य ग्रन्थ-रत्न महाभारत, जिसकी बहुत दिनोंसे अत्यधिक माँग थी, वह अब सम्पूर्ण सटीक छः खण्डोंमें प्राप्त हो गया है। इच्छुक सज्जनोंको मँगानेमें शीघ्रता करनी चाहिये।

	मूल्य	डाकखर्च
महाभारत प्रथम खण्ड—हिन्दी-टीका-सहित, सचित्र, सजिल्द—	३५.००	१२.००
,, द्वितीय खण्ड— ,, ,, ,,	४०.००	१२.००
,, तृतीय खण्ड— ,, ,, ,,	४०.००	१२.००
,, चतुर्थ खण्ड— ,, ,, ,,	५०.००	१२.००
,, पञ्चम खण्ड— ,, ,, ,,	४०.००	१२.००
,, षष्ठ खण्ड— ,, ,, ,,	४५.००	१२.००

एक आवश्यक निवेदन

इधरसे कुछ दिनोंसे हमें बराबर इस आशयकी सूचनाएँ मिल रही हैं कि कुछ अनधिकारी लोग 'कल्याण' मासिक-पत्रके ग्राहक बनानेके नामपर अवैध और अनुचित धनवसूली करके जनसाधारणको धोखा दे रहे हैं। यह उनका अत्यन्त गर्हित, अनैतिक और घोर निन्दनीय कार्य है। इस विषयमें पहले भी समय-समयपर 'कल्याण'के माध्यमसे सूचनाएँ दी जा चुकी हैं; किंतु खेद है कि यह अनुचित कार्य अभीतक बंद नहीं हुआ है। 'कल्याण'के सभी श्रद्धालु और प्रेमी पाठकोंसे हमारा पुनः नम्र निवेदन है कि वे 'कल्याण' अथवा गीताप्रेसके नामपर ऐसे किसी भी अनधिकृत व्यक्तिको कोई भी धनराशि न तो स्वयं दें और न यथासम्भव किसी अन्यको ही (अपनी जानकारीमें) देने दें; क्योंकि ऐसे किसी भी अवाञ्छित व्यक्ति और उसके कार्योंसे 'कल्याण' या गीताप्रेसका किसी प्रकारका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। 'कल्याण' मासिक-पत्र या गीताप्रेसकी पुस्तकोंके निमित्त कोई भी धनराशि किसी व्यक्तिको न देकर सीधे 'कल्याण' कार्यालय अथवा 'गीताप्रेस, गोरखपुर'के पतेपर ही भेजी जानी चाहिये।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, गोरखपुर २७३००५